जाने कहाँ गए लघु किसान

खेती व भारतीय किसान की कहानी

द्वारा प्रकाशित
फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ

सहयोग
रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग, दक्षिण एशिया

Focus on Smallholder Agro-ecology Series-1

जाने कहाँ गए लघु किसान

खेती व भारतीय किसान की कहानी

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

Focus on Smallholder Agro-ecology Series-1

जाने कहाँ गए लघु किसान

खेती व भारतीय किसान की कहानी

लेखक : विजय सिंह नेगी (उर्फ बिजू नेगी)

प्रकाशन : मार्च 2014

संपादित : रिमली बरूआ

द्वारा प्रकाशित : **फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ, इंडिया**
33–डी, तीसरी मंजिल, विजय मंडल एनक्लेव
डीडीए एसएफएस फ्लैट्स, कालू सराय, हौज खास
नई दिल्ली–110016
टेलीफोन : 91–11–26563588, 41049021
www.focusweb.org

सहयोग : **रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग, साउथ एशिया**
सेंटर फोर इंटरनेशनल कॉ–ऑपरेशन
सी–15, दूसरी मंजिल, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया मार्केट,
नई दिल्ली–110016
www.rosalux-southasia.org

आवरण चित्र : Raigarh, www.raigarh.gov.in

डिजाइन एवं मुद्रण : पुलशॉप, 9810213737

इस पुस्तिका की विषयवस्तु का इस शर्त के साथ बिना–रोक टोक के पुनर्मुद्रण और उद्धृत किया जा सकता है कि इस स्रोत का उल्लेख किया जाए। फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ उस प्रकाशित सामग्री को पाने पर आभारी रहेगा, जिसमें इस रिपोर्ट का उल्लेख किया गया है।

यह एक अभियान प्रकाशन है और निजी वितररण के लिए है!

विषय सूची

प्राक्कथन	5
यह पुस्तकमाला	9
भूमिका	11
कृषि हमारे अस्तित्व के केन्द्र में	15
औपनिवेशिक छल	20
स्वतंत्रता पर एक क्षीण, जर्जर सोने की चिड़िया	26
बोझ बढ़ता गया	32
तो फिर लघु किसान कहाँ जाएँ?	49
संदर्भ व स्त्रोत	52

प्राक्कथन

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इसका 2012–13 में देश की जीडीपी (सकल घरेलू उत्पाद) में 13.7 प्रतिशत (1990–91 में 30 प्रतिशत से गिर कर) एवं उसके निर्यात में लगभग 11 प्रतिशत योगदान रहा। भारत की लगभग आधी आबादी अभी भी अपनी आय के मुख्य स्रोत के लिए कृषि पर निर्भर है। भारत में 179.9 मिलियन हेक्टेयर कृषि भूमि है, जो विश्व में दूसरी विशालतम है और उसके पास विश्व के 4 प्रतिशत जल संसाधन हैं, लेकिन उसे विश्व की 17 प्रतिशत मानव आबादी तथा 15 प्रतिशत पशुधन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। 20 कृषि–जलवायु क्षेत्रों के साथ विश्व की सभी 15 प्रमुख जलवायु भारत में हैं। विश्व की 60 मृदा किस्मों में से 46 किस्में भी देश में हैं। 2011–12 के फसल वर्ष (जुलाई–जून) में भारत ने खाद्यान्नों का 259.29 मिलियन टन का रिकॉर्ड उत्पादन किया। यह दालों, दूध, चाय, काजू, जूट (पटसन) एवं जूट जैसे फाइबर का विशालतम उत्पादक, चावल, गेहूं, गन्ने, मूंगफली, सब्जियों, फलों, कपास का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक और मसालों एवं पौधारोपण की फसलों के अलावा पशुधन, मत्स्य पालन एवं पॉल्ट्री (कुक्कट) के क्षेत्रों में एक प्रमुख उत्पादक है।

इन सभी चीजों के बावजूद भारतीय किसानों, विशेषकर लघु एवं सीमांत किसानों की दुर्दशा प्रत्येक साल गुजरने के साथ बिगड़ती गई है, जिससे कृषि संकट गहरा हो रहा है। 1995 से अब तक 2,90,000 से भी अधिक किसान आत्महत्या कर चुके हैं और प्रतिदिन 2,358 किसान कृषि का पेशा छोड़ रहे हैं। कृषक परिवारों की औसत मासिक कृषि आय (2,115 रु.) अब औसत मासिक खर्च (2,700) से कम है, इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि पूरे देश की आबादी का पेट भरने वाले खाद्यान्न उत्पादक या अन्नदाता भूख एवं कुपोषण से मौत के शिकार हो रहे हैं। भारत की जीडीपी में कृषि क्षेत्र का योगदान घट गया है, जिसके साथ वास्तविक उत्पादकों की तुलना में कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। अब 52 प्रतिशत से भी अधिक श्रमिक बल कृषि पर आश्रित है। ग्रामीण इलाकों में रोजगार के अवसरों के भारी अभाव के चलते किसानों और कृषि श्रमिकों का एक बहुत बड़ा हिस्सा पलायन कर शहरों/औद्योगिक केंद्रों में जा रहा है। भारतीय कृषि के स्व–संपोषित (सेल्फ–सस्टेनेबल) मॉडल को अब अव्यावहारिक, आत्महत्या–प्रवृत्त, कर्जग्रस्तता और किसान परिवारों में रोजगार के अवसरों की दृष्टि से नई पीढ़ी के लिए एक अनाकर्षक साधन के रूप में देखा जाता है। मानव इतिहास में भारतीय कृषि से सर्वाधिक लोगों

का विस्थापन हो रहा है और यह मुख्यतः उन प्रतिकूल सार्वजनिक नीतियों द्वारा पैदा की गई विपत्तिजनक स्थितियों के कारण है, जो किसानों के खिलाफ अपनाई गई हैं। नव–उदारवादी नीति सघन कृषि वस्तुओं (इनपुट), निर्यातोन्मुखी, औद्योगिक कृषि मॉडल पर जोर देती है, जिसने हमारी कृषि की आधारभूत चीजों–जमीन, जल एवं जलवायु को अत्यधिक प्रदूषित कर दिया है, जिससे बीज और कृषि जैव–विविधता को गंभीर क्षति पहुंच रही है और भारत के करोड़ों लघु एवं सीमांत किसानों के लिए कृषि पेशा गैर–टिकाऊ और अलाभकारी बना दिया गया है।

लेकिन, लघु एवं सीमांत किसान अभी भी भारत की खाद्य सुरक्षा और टिकाऊ कृषि संवृद्धि (ग्रोथ) की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कृषि जनगणना 2010–11 के अनुसार खेती के काम में आने वाली छोटी जोत की 85 प्रतिशत भूमि (2005–06 में 83 प्रतिशत के मुकाबले) देश की कुल कृषि भूमि के लगभग 44 प्रतिशत के बराबर है, जो लघु एवं सीमांत किसानों के स्वामित्व में है। द इंडिया रूरल डेवलपमेंट रिपोर्ट 2012–13 में कहा गया है कि भूमि एवं संसाधनों के उपयोग में बड़े किसानों की तुलना में लघु किसानों ने अपने आपको अधिक कुशल साबित किया है। इस प्रकार, भारत का कृषि भविष्य लघु एवं सीमांत किसानों के कार्य–प्रदर्शन पर निर्भर है। लेकिन, यह भी एक हकीकत है कि उन्हें निर्यातुन्मुखी कृषि या हरित क्रांति के जरिए नव–उदारपंथी नीतियां अपनाने की तरफ धकेला जा रहा है। इसके पीछे उद्देश्य लघु एवं सीमांत किसानों की कीमत पर भारतीय कृषि का निगमीकण करना है। उन्हें कृषि छोड़ने और रियल इस्टेट एवं ढांचागत सुविधा उद्योग (इन्फ्रास्ट्रक्चर इंडस्ट्री) के सस्ते श्रमिक के बतौर कार्य करने को विवश किया जा रहा है। इसलिए, करोड़ों लघु किसानों की आजीविका का टिकाऊपन सुनिश्चित करने के लिए उनकी सुरक्षा की जाए और उन्हें बढ़ावा दिया जाए।

भारत और विश्व के अन्य भागों में दूसरी हरित क्रांति के प्रहार से लघु एवं सीमांत किसानों को बचाने के सिलसिले में कृषि प्रणाली में बदलाव के लिए आंदोलन आगे बढ़ता जा रहा है। किसानों की बहुत बड़ी संख्या, ठोस आंकड़ों और विशेषकर इंटरनेशनल असेसमेंट ऑफ एग्रीकल्चर नॉलेज, साइंस एंड टेक्नोलॉजी फोर डेवलपमेंट (आईएएएसटीडी) की रिपोर्ट से यह साबित हो गया है कि समुचित फील्ड–अनुभव एवं वैज्ञानिक अनुसंधान के जरिए लघु स्तरीय टिकाऊ कृषि उत्पादन के मामले में औद्योगिक कृषि को पीछे छोड़ सकती है और यह हमारी पृथ्वी पर कहीं अधिक बेहतर है। कृषि संकट के निराशाजनक हालात के बीच भारत में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहां लघु किसानों ने अपनी छोटी जोतों

में सार्थक नतीजे दिखलाए हैं, जो उत्साहवर्द्धक हैं। 2010–11 में बिहार के नालंदा जिले के दरवेशपुरा गांव में किसानों ने एक हेक्टेयर के खेत में धान (224 क्विंटल) और सोहदीह गांव में आलू (1,088 क्विंटल) का रिकॉर्ड उत्पादन किया है। इसके लिए उन्होंने टिकाऊ कृषि तकनीक का उपयोग किया और साबित किया कि छोटी जोत में खेती व्यावहारिक और लाभकारी हो सकती है। मध्य प्रदेश के अलीराजपुर जिले के कुछ किसानों ने बहु–फसली तरीका अपनाया और एक हेक्टेयर के खेत में लगभग 2.9 टन मक्का एवं 0.4 टन सोयाबीन तथा पपीते के 100 पौधों से प्रति पौधा 150 फलों का उत्पादन किया है। जबकि इस जिले में औसत पैदावार मक्का की प्रति हेक्टेयर 1,497 किग्रा. और सोयाबीन की प्रति हेक्टेयर 720 किग्रा. है। गोरखपुर में जिला प्रशासन के अलावा कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्री (सीआईई) ने 2011 में एक एकड़ के खेत में प्रतिवर्ष 32 विभिन्न फसलों (नकदी एवं खाद्यान्न फसलों) की पैदावार करने वाली एक महिला किसान को 'एक आदर्श किसान' घोषित किया। इन फसलों का उत्पादन 12 सदस्यों के परिवार के भरण–पोषण के लिए पर्याप्त है। खाद्य अधिकार पर संयुक्त राष्ट्र के स्पेशल रेपोर्टेयर ओलिवर स्युटर ने साक्ष्यों का संकलन किया है, जो दर्शाते हैं कि न सिर्फ टिकाऊ या कृषि–पारिस्थितिकीय बहु–फसली कृषि के दृष्टिकोण सभी लोगों को पर्याप्त खाद्य पदार्थ प्रदान कर सकते हैं, बल्कि लघु स्तरीय किसान भी कृषि–पारिस्थितिकीय विधियों का उपयोग कर 10 साल के भीतर खाद्य उत्पादन को दोगुना कर सकते हैं।

रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग (आरएलएस) के सहयोग से फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ ने शैक्षिक सामग्रियों और अन्य प्रकाशन प्रकाशित करने का एक संयुक्त कार्यक्रम शुरू किया है, जिसमें लघु एवं सीमांत किसानों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। इनमें उनकी समस्याओं पर प्रकाश डाला जाएगा तथा गवर्नेंस (शासन) के उन विभिन्न मसलों को समझने का प्रयास किया जाएगा, जिन्होंने उनके अस्तित्व को संकटग्रस्त कर दिया है। इन प्रकाशनों में भारत में कृषि सुधारों के वर्तमान नव–उदारपंथी मॉडल के विभिन्न पहलुओं के अलावा यह चर्चा की जाएगी कि किस प्रकार उसका लघु स्तरीय कृषि की व्यावहारिकता पर प्रभाव पड़ता है। कृषि के निगमीकरण, आनुवंशिक रूप से परिवर्द्धित फसलों (जेनेटिकली इंजीनियर्ड क्रॉप्स), बीजों के पेटेन्टीकरण, भूमि हड़पने, सिंचाई के जल के निजीकरण, रिटेल में एफडीआई, जलवायु परिवर्तन आदि के मंडराते खतरों के मद्देनजर इन प्रकाशनों का मुख्य विषय कृषि में आत्मनिर्भरता का महत्व होगा। यह बतलाया जाएगा कि किस प्रकार किसान अपना

आत्म सम्मान बनाए रखें, अपने मालिक खुद बनें और पूंजी–केंद्रित कृषि प्रणाली में गुलाम बनने के बजाए भारतीय कृषि में अंतर्निहित जीवन के मूल्यों को अपनाते रहें। हम टिकाऊ एवं कृषि पारिस्थितिकीय सिद्धांतों पर आधारित उन वैकल्पिक प्रौद्योगिकियों पर प्रकाश डालने के विशेष प्रयास भी करेंगे, जो न सिर्फ इन लघु किसानों को सक्षम एवं आत्मनिर्भर बनाने, बल्कि किसानों के परिवारों के टिकाऊ निर्वाह के लिए लाभकारी आर्थिक इकाई भी हैं। लघु एवं सीमांत किसानों में यह आत्मविश्वास जाग्रत करने की अत्यंत आवश्यकता है कि छोटी जोत उनके जीवन निर्वाह के लिए व्यावहारिक और टिकाऊ है। लघु एवं सीमांत किसानों के लाभ के लिए यह भ्रम गलत साबित करने की भी जरूरत है कि सिर्फ बड़ी जोत व्यावहारिक होती है।

''जाने कहाँ गए लघु किसान'' इस सीरीज की पहली पुस्तिका है और इसमें भारत की उस समृद्ध कृषि प्रणाली के व्यापक इतिहास पर प्रकाश डाला गया है, जिसे ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों ने तबाह कर दिया था।

हमें आशा है कि इन शैक्षिक सामग्रियों से लघु किसानों के साथ एवं उनके बीच सचेष्ट संवाद और विचारों का आदान–प्रदान शुरू करने में मदद मिलेगी। इनसे लघु किसान अपनी ताकत का अहसास कर पाएंगे, कृषि में उनकी गरिमा की भावना पुनः प्रतिष्ठापित होगी और कृषि के बारे में फैसले लेने में सक्षम बन कर वे स्वयं अपनी पहलों के जरिए बाधाएं पार कर सकेंगे।

अफसर जाफरी
कॉऑर्डिनेटर
फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ, इंडिया

यह पुस्तकमाला

भारत में लघु किसान व लघु किसानी के मुद्दों पर, रोज़ा लक्ज़मबर्ग स्टिफटुंग के सहयोग से फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ, एक ''लघु किसान कृषि–पारिस्थितिकी श्रृंखला'' शीर्षक से एक पुस्तकमाला प्रकाशित कर रहा है।

इस पुस्तक श्रृंखला का उद्देश्य छोटे किसानों के साथ व उनका आपस में एक संवाद शुरू करना है जिससे वे अपनी खेती को सशक्त कर आगे बढ़ाने के लिए स्वंय निर्णय व पहल कर सकें। हम यह इस आधार और विश्वास से कह रहे हैं कि हांलाकि लघु किसान समुदाय की चिंताएं व समस्याएं गंभीर हैं और बडी–बड़ी शक्तियाँ उनके खिलाफ मुंह बाएं खड़ी हैं, फिर भी लघु किसान और लघु किसानी में आज भी सामर्थ्य व असीम संभावनाएँ हैं।

अत: इस पुस्तकमाला की कोशिश रहेगी कि छोटे किसान अपनी शक्ति पहचानें, खेती–किसानी में अपनी गरिमा व प्रतिष्ठा पुन: हासिल करें और अपने एकजुट प्रयासों से अपनी मुश्किलों से पार पाएँ। यह मानते हुए कि देश की समग्र खाद्य, पोषण व आजीविका सुरक्षा में लघु किसानी का बने रहना अतिआवश्यक है, यह श्रृंखला वास्तव में किसानों द्वारा अपनी संप्रभुता स्थापित करने की भी एक उम्मीद है।

हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित इस श्रृंखला की पुस्तिकाएं लोक संगठनों व आंदोलनों, मध्य–स्तरीय विकास कार्यकर्त्ताओं और किसानों के लिए लिखी जा रही हैं। इस प्रस्तावित पुस्तकमाला के अंर्तगत विषय व शीर्षक स्वयं किसानों द्वारा व उनके परामर्श से चयन किए गए हैं। इस तरह के परामर्श के लिए दिल्ली में अक्टूबर 2013 में एक कार्यशाला आयोजित की गई थी जिसमें हिन्दी भाषी क्षेत्रों से या जहाँ हिन्दी आसानी से समझ ली जाती है, वहाँ से किसान आए थे। इसी तरह की बैठक या कार्यशालाएं, अन्य क्षेत्रों में भी करने का विचार है। चूँकि लघु किसान स्वयं इन प्रकाशनों की दिशा तय कर रहे हैं, हमें उम्मीद है कि इससे पुस्तकमाला में उठाए जा रहे विषयों या मुद्दों की तात्कालिकता व प्रासंगिकता को बल मिलेगा। यह भी तय है कि प्रकाशन पश्चात् जो भी पहल की जाएंगीं, उनमें भी किसान सार्थक व सक्रिय भूमिका निभाएंगे।

इस पुस्तकमाला की पहली पुस्तिका ''जाने कहाँ गए लघु किसान'', भारत में कृषि की ऐतिहासिक यात्रा

पर एक मोटी नजर डालती है और उसमें किसान कहाँ खड़ा है, यह देखने की कोशिश करती है। यह पुस्तिका उस यात्रा के मुख्य मीलपत्थर और पड़ाव, उत्साह व नैराश्य क्या व कहाँ रहे, यह देखने–समझने की कोशिश करती है, विशेषकर यह कि समाज में एक समय अपनी मजबूत स्थिति से आज किसान का पतन क्योंकर हुआ। यह पुस्तिका, लघु किसानी के मुद्दों की एक वृहद पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है जिससे किसान अपनी विरासत व अपने ह्रास को ठीक से समझ सकें। उम्मीद है कि इस पहल से संवाद के लिए आत्मचिंतन व परस्पर विमर्श की प्रक्रिया शुरू हो सकेगी।

बिजू नेगी

भूमिका

हमारी धरती अपने सबसे संकटमय समय से गुजर रही है जब उसका संपूर्ण अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। यह संकट कुछ तो पृथ्वी के ऐतिहासिक क्रमविकास व गति के कारण हो सकता है, लेकिन निश्चय ही उसकी ज्यादा वजह मानवीय कमियाँ व गलतियाँ हैं। हम जीवन की अवरचना व पृथ्वी पर उसके संचालन को ठीक से समझ नहीं पाए हैं जिस कारण जाने–अनजाने हम प्राकृतिक नियमों का पालन करने में असमर्थ हो गए हैं और जिसके फलस्वरूप समाज में असमानताएं व विषमताएं पुनःस्थापित होती रही हैं और तेजी से बढ़ भी रही हैं।

खेती–किसानी मानव समाज की मूल जीवन पद्धति है और यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि वह हमारे अस्तित्व के केन्द्र में है। धरती का संकट, खेती के ही क्षेत्र में सर्वाधिक स्पष्ट दिखता है सो इसका प्रभाव निसन्देह हमारे आहार और सुख–संपन्नता पर पड़ता है।

भारत में स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली लगभग सभी सामाजिक विज्ञान की किताबें इस वाक्य से शुरू होती हैं कि ''भारत एक कृषि–प्रधान देश है।'' और उसी के साथ, एक गंभीर आदर भाव के लहजें में, यह भी लिखा होता है कि किसान हमारा ''अन्नदाता'' है। भारत में खेती–किसानी, देश के अधिकांश लोगों की जीवन–पद्धति व जीवनयापन का मुख्य जरिया रही है। अतः समाज में कृषि को एक सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहा है। आज भी, देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या, सीधे अथवा परोक्ष रूप से, खेती से जुड़ी है – और उस कृषि–निर्भर समाज के 80 प्रतिशत या अधिक लोग लघु व सीमांत किसान हैं जिनकी 1 से 5 हेक्टर जोत हैं। कृषि गणना आंकड़ों के अनुसार भारत में 2000–01 में करीब 12.1 करोड़ कृषि जोत थीं जिनमें से 9.9 करोड़ जोत (लगभग 82 प्रतिशत) छोटे व सीमांत किसानों की थीं।(1)

ये किसान, शताब्दियों से देश की रीढ़ रहे हैं। पर बावजूद इतने बहुमत में होने के, आज भारतीय लघु किसान एक अत्यंत दयनीय स्थिति में हैं। इतना ही नही! उनके जीने के विकल्प व जीवन की परिस्थितियाँ बद से बदतर होती जा रही हैं। आज वे समाज के सबसे निचले पायदान पर हैं और उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। जो सम्मान एक 'अन्नदाता' को मिलना चाहिए था, वह उन्हें कहीं नहीं मिलता है। राजनैतिक शब्दाडंबर व मजबूरियों में जरूर यदा–कदा उनका जिक्र आ जाता है, परन्तु देश की नीतियों या योजनाओं में उन्हें कोई सम्मान या यथेष्ठ स्थान नहीं मिला है।

वास्तव में, देश के विकास नियोजन व विशेषकर खाद्य व कृषि नियोजन ने देश की इस अधिसंख्यक जनता को ठगा ही है। सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों ने सीधे अथवा परोक्ष तौर पर छोटे किसानों को हाशिए पर इस कदर धकेला है कि आज वे पूरी दारुण दरिद्र स्थिति में हैं जहाँ न तो वे सामाजिक–आर्थिक विकास का कोई हिस्सा हैं, न ही उन्हें कोई आदरभाव से देखता है। स्वयं देश के प्रधानमंत्री, डा. मनमोहन सिंह उन्हें देश की गरीबी के लिए दोषी ठहराते हुए कहते हैं कि, ''हम गरीबी से अपना सिर ऊपर तभी उठा सकते हैं जब ज्यादा से ज्यादा लोगों को खेती से बाहर निकाल सकें।''(2)

ऐसे में, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एन.एस.एस., जुलाई 2005) की इस टिप्पणी से कोई आश्चर्य नहीं होता कि समुचित निर्वाह, प्रोत्साहन व सम्मान के अभाव में, लगभग 40 प्रतिशत किसान, उचित विकल्प मिलने पर, खेती छोड़ने को तैयार हैं। 1995 से अब तक 1.5 करोड़ किसान खेती छोड़ चुके हैं और उनकी निरंतर बिगड़ती स्थिति का सर्वाधिक त्रासद पहलु यह है कि 1995 से 2010 के बीच ढाई लाख से ज्यादा – और अब तक लगभग तीन लाख – किसान आत्महत्या कर चुके हैं।

एक ''कृषि–प्रधान'' भारत में लघु किसानों की यह बदतर होती स्थिति अत्यंत त्रासद व गंभीर अन्याय का विषय है।

यह स्थिति इस दृष्टि से भी त्रासद है कि देश के विकास और खुशहाली में किसानों का ऐतिहासिक योगदान रहा है और उनकी लगातार बिगड़ती परिस्थिति का पूरे देश की खुशहाली पर सीधा प्रभाव पड़ता है। देश के विकास परिदृश्य से जब से लघु किसान और लघु किसानी हाशिए पर आए हैं, तबसे देश की खाद्य सुरक्षा से दीर्घकालिकता व पोषणीय गुणवत्ता, दोनों स्तर पर गंभीर समझौता कर उस पर खतरा आ खड़ा हुआ है। देश में भूख व कुपोषण से ग्रस्त लोगों की संख्या लगातार बढ़ी है और हमारी यह संख्या, दुनिया में दूसरे नंबर पर है।

लघु किसानी के ह्रास से देश में बेरोज़गारी की समस्या बढ़ी है। किसानी व ग्रामीण इलाकों से पलायन से शहरों में जनसंख्या का दबाव, उसकी धारण क्षमता से कहीं अधिक बढ़ा है जिससे वहाँ मलिनावास व संबंधित सामाजिक बुराईयों का व्यापक फैलाव हुआ है। सामाजिक असमानताएं बढ़ी हैं और खेती में व सामान्यतः भी, महिलाओं पर संकट गहराया है।

अगर हम वाकई व्यापक सामाजिक चिंताओं को संबोधित करना चाहते हैं तो हमें छोटे किसानों की

खेती–किसानी के मुद्दों पर ध्यान देना ही होगा। ये मुद्दे समाज के सर्वांगीण व दीर्घकालिक विकास की कुंजी हैं। साथ ही, लघु किसानी – उसके सिद्धांत व स्थानीय जमीन व मौसमी परिस्थितियों से जुड़ी उसकी प्रथाएँ व कार्यप्रणालियाँ – की वैज्ञानिक सुस्पष्टता व आधार की आज लगातार पुष्टि हो रही है। ऐसे में, गंभीर चिंताओं से घिरे और हाशिए पर धकेल दिए जाने के बावजूद, लघु किसानी आज भी जीवनक्षम व संभव है।

कृषि, हमारे अस्तित्व के केन्द्र में

लघु किसान जिसके सबल कंधों और जिसकी खुशहाली पर पूरा देश निर्भर था, ऐसा कैसे हुआ कि आज वह खेती में अपना भविष्य नहीं देखता है और उसे छोड़ देने या आत्महत्या की सोचने को ही एकमात्र विकल्प मानता है। यह समझने के लिए, अपने देश में खेती के इतिहास पर एक मोटी नजर डालना जरूरी होगा।

मानव समाज के विकास में कृषि सर्वाधिक लाक्षणिक व निर्णायक घटक रही है और उस इतिहास को शक्ल देने में लघु किसान का अहम किरदार रहा है। वास्तव में, संपूर्ण इतिहास में, कृषि का – और परिणाम स्वरूप, समाज का – विकास, छोटे किसानों की बुद्धि और मेहनत की उपज रहा है। उनकी प्रतिभा, अपने परिवेश को लेकर उनका बारीक अवलोकन व समझ और खेतों में उनकी हाड़–तोड़ मेहनत न होती तो यह दुनिया न तो बनी–बची रहती, न प्रगति ही कर पाती; न ये धरती शस्य–श्यामल होती, न ही हमारे खाद्य आहार – अनाज, दालें, फल, शाक, आदि – में इतनी आंतरिक व बाह्य विविधता होती। ऐसी विविधता जो हमें न सिर्फ अपनी पसंद चुनने–खाने का अवसर देती है बल्कि बाढ़ व सूखा जैसी आपदाओं और बीमारी व भूख के खिलाफ भी सुरक्षा प्रदान करती है।

इस धरती पर कृषि दस हजार साल पुरानी मानी जाती है। भूगर्भीय व हमारे पौराणिक साहित्य – वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत, आदि – में उन जमानों में खेती–किसानी के पर्याप्त तथ्य मिलते हैं जो हमें जमीन के प्रकार, बरसात की भविष्यवाणी, खेती के औजार, गोबर खाद का प्रयोग, सिंचाई, बीज व बीजारोपण, कीट व उनके प्रबंधन, फलोत्पादन, आदि पर जानकारी प्रदान करते हैं।

करीब नौ हजार वर्ष ईसा पूर्व में उपमहाद्वीप में पौध व पशुओं को पालतू बनाने की बात मिलती है। नवपाषाण युग (7500–6500 ई.पू.) में मानव गाँवों में बसने लगे जो कि समाज के क्रमविकास में एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक पड़ाव रहा, और जिसके बाद खेती की सीख व प्रयोग को बढ़ावा मिला। वह किसी आंदोलन से कम नहीं था। भेड़, बकरी, गाय–बैल, सुअर, घोड़ा, गधा को पालतू बनाया गया और जानवरों के गोबर का खेतों में खाद के रूप में प्रयोग हुआ तथा फसल काटने के लिए दरांती–हंसिया का आविष्कार हुआ।

सिंधु घाटी सभ्यता (3300–1900 ई.पू.), जिसे हड़प्पा सभ्यता भी कहते हैं, के दौरान पशुओं द्वारा हल लगाने, वर्षाधारित धान, गेहूं, जौ, कपास, आदि की फसलों तथा अनाज–गोदामों के निर्माण की बातें मिलती हैं। तदोपरान्त, सिंचाई व जल संरक्षण प्रणालियों का विकास हुआ। उसी अवधि में, संभवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानवीय आविष्कार – चक्र या पहिये का ईजाद हुआ। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के अनाज–गोदाम बहुत विशालकाय होते थे, जो इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि उन दिनों खेती से फसल भरपूर हुआ करती होगी।

बाद के (1000–500 ई.पू.) वैदिक साहित्य में विविध खाद्यानों, सब्जियों व फलों का वर्णन मिलता है। वास्तव में, ऋगवेद में तो लिखा तक है कि कृषि सर्वोत्तम व्यवसाय है। उसमें बीजों के महत्व पर भी जोर दिया गया है और फसल लगाने के एक सुनिश्चित क्रम का भी सुझाव दिया गया है।

मौर्य शासन काल (322–185 ई.पू.) के दौरान, मिट्टी का वर्गीकरण किया गया और खेती के लिए मौसम संबंधित अवलोकन किए गए। यूनानी राजनयिक मेगस्थीनीज़ (300 ई.पू.) ने अपनी किताब 'इंडिका' में लिखा है, ''भारत में ..... अधिक उपजाऊ कई बड़े मैदानी इलाके हैं। अधिकांश भूमि सिंचित है जिसके फलस्वरूप साल में दो फसलें ली जाती हैं। भारत भर में, अनाजों के अलावा, ज्वार, बाजरा व विभिन्न दालें व धान उगते हैं।''(3, 4, 5, 6)

शुरू मध्यकालीन युग (500–11300 ईसा बाद) के आते–आते खेती तेजी से व्यापक क्षेत्र में फैल चुकी थी और नाना प्रकार की फसलें व फल, यहाँ तक कि व्यवसायिक फसलें भी उगाई जा रही थीं। (7) संपोषित खेती के लिए हल लगाना, खाद डालना, निराई–गुड़ाई करना, सिंचाई करना व फसल सुरक्षा का काम बड़े योजनाबद्ध तरीके से होने लगा। इस अवधि में जल संग्रहण प्रणालियों के नमूने तैयार किए गए। दालचीनी व काली मिर्च समेत भारतीय देशज मसालों का निर्यात शुरू किया गया। (8) चोला शासनकाल के दौरान (875–1279 ई.बा.) भूमि हस्तांतरण होने लगा और धीरे–धीरे लोगों की सामूहिक भूमि का व्यक्तिगत जमीन में परिवर्तन होने लगा। (9)

खेती, मेहनत और अनुभव से आई है

प्राचीन कृषि इतिहास पर सरसरी नजर इस बात को साफ तौर से रेखांकित करती है कि धरती या दुनिया में कृषि का आगमन और विकास किसी जादू की छड़ी से नहीं हुआ, बल्कि सहस्त्राब्दियों में पीढ़ी दर

पीढ़ी ने 'एक–एक ईंट चढ़ा कर' इसे खड़ा किया है। उसे किसी ने थोपा नहीं बल्कि उसे निश्चित व विस्तृत अवलोकन, कड़ी मेहनत व दीर्घकालिक अनुभव से हासिल किया है। किसानों ने प्रकृति को बहुत बारीकी से देखा, उस सीख को आत्मसात किया और प्रकृति से तालमेल बैठा कर काम किया। जैसे–जैसे उनकी सीख व अनुभव बढ़ा, खेती भी बढ़ी। हो सकता है कि किसी ने प्रकृति व उसके नियमों से हट कर भी कुछ किया हो, पता नही; लेकिन अगर किसी ने ऐसा किया भी होगा, तो वह ज्यादा टिका नहीं और उन लोगों को जल्दी ही समझ में आ गया या फिर उस पूरी सभ्यता का ही जल्दी अंत हो गया।

अधिकांशतः, जो सभ्यताएं बचीं उन्होंने अपने निकट प्राकृतिक परिवेश को ग्रहण किया, उससे सीखा और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का समझबूझ कर इस्तेमाल किया। उन्होंने कुछ प्रयोग किए, उनका अभ्यास किया और उन बातों को स्वीकार कर संभाला जो लंबे समय तक कामयाब रहीं। और अगली पीढ़ी ने खेती की डोर, जहाँ उनके मां–बाप छोड़ गए थे, उसी सिरे से थामा, और अपने पूर्वजों के अनुभव व ज्ञान में अपने अनुभव को जोड़ते हुए कृषि के ज्ञान व प्रयोगों को और दो कदम आगे बढ़ाया।

इतना सब कहने का यह मतलब कतई नहीं है कि इतिहास में सभी कुछ अच्छा और बेदाग था। पर चूँकि कृषि अपनी शैशव अवस्था में ही थी, किसानों को अपने काम में अत्याधिक मानसिक, शारीरिक व वस्तुपरक मुश्किलों का सामना करना पड़ा होगा, जिनसे उन्होंने खेतों में सिर्फ अपनी कड़ी व अनुशासित मेहनत और कर्मठता से ही पार पाया होगा। साथ ही, उन समयों की सामाजिक संरचना जातिगत अथवा कबिलियाई प्रभावों से बेहद ग्रस्त थीं और अन्य समूहों की तरह, छोटे किसानों को भी सामाजिक व सांस्कृतिक उत्पीड़न का सामना करना पड़ा होगा। इसने उनकी आजीविका और जीवित रहने तक को गंभीर रूप से प्रभावित किया होगा।

परन्तु, बद से बदतर सामाजिक परिस्थितियों में भी, खेती के मूल सिद्धांतों, उसका ज्ञान, उसकी समझ व प्रयोगों से बहुत छेड़छाड़ नहीं हुई और वे प्राकृतिक नियमों की हद में ही रहे और विकसित हुए। किसान समुदायों व उनके उत्पादों को अन्य जो भी खतरे रहे होंगें, कृषि में लोगों के व्यवहार व प्रयोग वही रहे जिन्हें हम आज की भाषा में वहनीय, दीर्घकालिक या 'सस्टेनबल' कृषि कहते हैं।

किसान, एक उत्कृष्ट विज्ञानी

अपने स्तर पर किसान सदा ही, अपने खेतों में व बाहर, अपनी फसलों को लेकर जांच व प्रयोग करते रहे

और स्थानीय भूगोल व सामाजिकी के अनुरूप, प्रकृति के निर्देशों व मौसमीय चक्रों का पालन करते हुए, एक स्वाभाविक तौर पर सीखते हुए वे अपना विकास करते रहे।

स्थानीय, प्राकृतिक नियमों व परिस्थितियों से तालमेल बैठाने, साथी किसानों से सहयोग करने तथा खेतों में पूरे लगन व अपनी फसलों पर मेहनत करने से ही किसानों की खेती सार्थक व अर्थपूर्ण बनी रही और देश को हर मायने में खेती की संतुलित कार्यप्रणालियाँ व समृद्ध जैवविविधता मिली है। धर्मपाल अपनी किताब 'रीडिस्कवरिंग इण्डिया' में लिखते हैं, ''जिन बातों ने विशेष ध्यान खींचा, वे हैं भारतीय किसान को उपलब्ध विभिन्न प्रकार के बीज, उसके परिष्कृत उपकरणों की सादगी और अपने खेतों और फसलों पर उसका नितांत ध्यान व मेहनत।''(10) उन्होंने अपनी किताब में यह भी जिक्र किया है कि आईन-ए-अकबरी में मध्य भूभाग में गेहूं की उत्पादकता दर्ज है जो कि हरित क्रान्ति पश्चात् कृषि में प्राप्त अधिकतम उत्पादकता से तुलना में खरी उतरती है।(11)

अपने खेतों और फसलों के प्रत्येक पहलू पर बारीक ध्यान देने के ही कारण संभवत: किसान उन तकनीकों व प्रौद्योगिकी का आविष्कार या खोज कर पाया जिसके फलस्वरूप खेती समृद्ध, उपजाऊ व संतुलित हो सकी। और बावजूद इसके कि अंग्रेज साम्राज्य ने भारतीय कृषि में भारी ह्रास और किसान को पूरी तरह दरिद्र बनाने का पूरा षड़यंत्र किया, अठारहवीं सदी के कई पश्चिमी प्रेक्षकों ने भारतीय कृषि प्रौद्योगिकी के उच्च मानकों का अक्सर उल्लेख किया है।

सन् 1832 में, ब्रितानी लोकसभा समिति के सामने गवाही देते हुए, भारत में रॉयल बोटोनिकल गार्डन्स के अधीक्षक डा. वॉल्लिक से पूछा गया कि ''क्या भारतीय कृषि, सुधार के लिए किसी भी तरह के बड़े परिवर्तन को स्वीकार कर या झेल सकेगी?'' तो उनका जवाब था कि, ''बेशक, पर उस हद तक नहीं जितना कि आमतौर पर अनुमान लगाया जाता है; उदाहरण के लिए, धान की खेती में मैं समझता हूं कि यदि हम अगले हजार साल तक भी जीवित रहें तो भी हम खेती की उस शाखा में शायद ही उससे बेहतर कुछ कर सकेंगें।''(12)

सन् 1889 में अंग्रेज सरकार ने रॉयल एग्रीकल्चरल सोसाईटी ऑफ इंग्लैण्ड के सलाहकार रसायनशास्त्री, डा. जॉन ऑगस्टस वोयलकर को प्रतिनियुक्त किया कि वे जाँच कर यह सलाह दें कि भारतीय कृषि को साधारणत: व वैज्ञानिक जरिए से किस तरह बेहतर किया जा सकता है। वोयलकर ने

दिसंबर 1889 से जनवरी 1891 तक देश में व्यापक भ्रमण किया। उनके द्वारा दी गई रिपोर्ट 1893 में प्रकाशित हुई। उस रिपोर्ट की सार में वे लिखते हैं कि ''इस रिपोर्ट में मैं समझता हूं कि भारतीय कृषि के बारे में दी गई इस राय से मैं सहमत नहीं हूं कि वह अनगढ़ व पिछड़ी है, बल्कि मैं यह मानता हूं कि कई मायनों में शायद ही कुछ है या कुछ भी नहीं है जिसे सुधारा जा सकता है; जबकि जहाँ कृषि प्रत्यक्ष रूप से घटिया है भी, वह आमतौर पर सुविधाओं की कमी की वजह से है जो कि बेहतर जिलों में उपलब्ध हैं, न कि उत्पादन में अंतर्निहित किसी त्रुटिपूर्ण पद्धति की वजह से।''(13) एक अन्य जगह पर, इस सवाल के प्रत्युत्तर में कि क्या भारत में कृषि में कुछ सुधार करने की क्षमता है, वे दो-टूक लिखते हैं कि, ''मैं यह कहने की गुस्ताखी कर रहा हूं कि भारत में खेती के लिए वाकई महत्त्वपूर्ण सुझाव देने से कई आसान प्रस्ताव तो अंग्रेजी खेती में सुधार करने का होगा।'' वोयलकर आगे लिखते हैं कि, ''यह निश्चित है कि ध्यानयुक्त खेती के साथ-साथ कड़े परिश्रम, दृढ़ लगन व संसाधनों की उर्वरता की कम से कम मैंने कभी कोई इससे श्रेष्ठ तस्वीर नहीं देखी जैसा कि मैंने अपनी इस यात्रा में कई जगहों पर देखी जहाँ मैं रुका।''(14)

ऐसे कई साक्ष्य व अन्य आधिकारिक रिपोर्ट हैं जो दर्शाती हैं कि अंग्रेज-पूर्व भारत में और यहाँ तक कि मध्य-उन्नीसवीं शताब्दी तक, हमारी कृषि उर्वर, समृद्ध व फलती-फूलती थी। और वास्तव में, अंग्रेज शासन के दौरान व बाद में ही भारतीय कृषि का ह्रास हुआ, जो भारतीय किसानों की गंभीर रूप से दरिद्रता का कारण बना। शोषक व शोषित के सटीक समीकरण के रूप में, अंग्रेज शासकों ने एक के बाद दूसरे ऐसे नियम-कानून स्थापित किए जिन्होंने भारतीय कृषि की समृद्ध विरासत का मटियामेट किया, किसानों को कंगाली की कगार पर ला खड़ा किया और जिनके चलते देश में अकाल, आपदाओं व भुखमरी का सिलसिला चला तथा किसान आंदोलन व विद्रोह हुए।

औपनिवेशिक छल

भारतीय कृषि को पिछड़ा व अवैज्ञानिक करार कर और यह दावा कर कि उसे केवल आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी से ही बचाया जा सकता है, अंग्रेज सरकार ने स्थानीय सामाजिक व कृषि तंत्र को जड़ से उखाड़ फेंका और उसकी जगह असंगत ज्ञान पर आधारित एक ऐसे पराए तंत्र को स्थापित किया जो स्थानीय परिस्थितियों के प्रतिकूल था। उन्होंने व्यापारिक खेती को समाविष्ट किया जो कि स्थानीय जनता की कीमत पर अंग्रेज साम्राज्य के हित में थी। गाँवों ने अपनी प्रभुता व आत्मनिर्भरता खोई, लोगों ने भूमि अधिकार खोए और उन्हें घोर परेशानियां झेलनी पड़ीं। स्थानीय व प्राकृतिक संसाधनों को लूट कर एक अति केन्द्रित प्रशासकीय प्रणाली की स्थापना व अत्याधिक भूमि कर की वजह से भारतीय किसान वर्ग अति दारुण स्थिति में धकेल दिया गया। (15) इसलिए कोई आश्चर्य नहीं, और यह याद करना प्रासंगिक ही होगा कि दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर महात्मा गांधी ने अंग्रेजों के खिलाफ जो पहला सत्याग्रह किया वह सीधा–सीधा किसानों और किसानी से जुड़ा था – 1917 में बिहार के चंपारण जिला में तीन कठिया आंदोलन – जहाँ किसानों को ब्रितानी कपड़ा मिलों में इस्तेमाल के लिए मजबूरन नील की खेती करनी पड़ रही थी। वाकई, औपनिवेशिक भारत में कृषि खाद्य का आधार न होकर अंग्रेजों के लिए कच्चा माल का स्त्रोत हो गया था।

वार्नर हेस्टिंग्स द्वारा शुरू की गई अंग्रेजों की भूमि कर नीति इस सिद्धांत पर आधारित थी कि भारत की पूरी जमीन साम्राज्य की मिल्कियत है। उसने निजी भूमि अधिग्रहण को प्रोत्साहन दिया और पुश्तैनी हैसियत के अधिकार के साथ एक सामंतीय जमींदार वर्ग को उभारा व स्थापित किया। भूमि का मालिकाना गैर–किसान, जमींदारों के आधीन किया गया जो ज्यादा से ज्यादा जमीन के मालिक बनते गए और अक्सर छोटे किसानों का हश्र उस अल्पसंख्यक जागीरदार वर्ग के गुलाम काश्तकार बन कर खेती करना हुआ। सरकार भूमि कर लेती थी, जमींदार कर–जमाकर्त्ता थे, और किसान मात्र कर–दाता थे जिनपर कर का अधिकांश बोझ था। (16) सरकार व जमींदारों को केवल कर में रुचि थी। इस परिस्थिति के चलते खेती की उत्पादकता व कुल फसल उत्पादन घटा जिससे कृषि से आय में तीव्र कमी हुई। सरकार की बढ़ती लेनदारियां और अनैतिक जमींदारों द्वारा शोषण की वजह से गैर की जमीन पर खेती में आगे निवेश करने के लिए किसानों के पास न तो संसाधन थे, न कोई दिली इच्छा ही। उन पर

बढ़ते ऋण की वजह से समाज में साहूकार के रूप में एक और दुष्ट बिचौलिया वर्ग पैदा हो गया जो धीरे–धीरे किसानों की जमीन और उपज पर नियंत्रण करने लगा। किसानों की इस दरिद्रता का यह परिणाम हुआ कि भारत की कृषि कुँठित और गतिहीन हो गई और तदोपरान्त उसका ह्रास हो गया।

हस्तशिल्प, विशेषकर कताई–बुनाई जैसे अन्य क्षेत्रों में भी सरकार की उदासीनता से गिरावट आई जिससे खेती पर और अधिक दबाव पड़ा। बुनाई से लोगों की पर्याप्त आजीविका हो जाया करती थी, इसलिए भी कि कई परिवार खेती और हस्तशिल्प दोनों ही करते थे। कताई–बुनाई को हाशिए पर कर दिए जाने से एक विस्तृत घरेलू उद्योग ढह गया जिसके फलस्वरूप कारीगर हस्तशिल्प छोड़–छोड़ कर पूरी तरह खेती में आने लगे।

अंग्रेज शासनकाल के दौरान अकाल

बी.एम. भाटिया अपनी किताब ''फैमिन्स इन इण्डिया'' (भारत में अकाल) में लिखते हैं, ''ग्यारहवीं शताब्दी के शुरू से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक भारत में 14 बड़े अकाल पड़े।'' (17) यह औसतन लगभग दो अकाल प्रति शताब्दी हुआ। ईस्ट इण्डिया कंपनी शासन की अवधि में, 1765 से 1858 के बीच, 16 बड़ी अकाल की दुर्घटनाएं हुईं, यानि कि पहले से आठ गुणा दर अधिक। फिर, अंग्रेज उपनिवेश काल के दौरान, 1859 से 1914 के बीच, भारत में प्रति वर्ष दो की औसत से बड़े अकाल पड़े, यानि कि अंग्रेज शासन से पहले की ऐतिहासिक दर से 25 गुणा अधिक! (18)

अकाल की घटनाओं की इतनी अधिक दर पर इस मुद्दे को कुछ करीब से जाँच करने की जरूरत है। उन अकालों में लाखों लोगों की जानें गईं जिनसे देश की आम जनसंख्या व विशेषकर किसान और खेती अत्यधिक अशक्त हुए क्योंकि उन आपदाओं का सर्वाधिक दुष्प्रभाव उन्हीं पर पड़ा।

कई विशेषज्ञों ने अंग्रेज शासन के दौरान हुए अकालों, व निश्चय ही उनसे हुए विनाश व मौतों के लिए मुख्यतः देश में अंग्रेजों की नीतियों व शासन को जिम्मेदार ठहराया है – जैसे, सरकार द्वारा किसानों से जबरदस्ती व्यापारिक फसलें उगवाना (इंग्लैण्ड में तैयार उत्पादों के लिए कच्चा माल), बेरोजगार बुनकर्घा व हस्तशिल्पी जिनके खेती की ओर रुख करने से खेती की जमीनों के लिए अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा होने लगी तथा किसानों की मुट्ठी से फिसलता पैसा जमींदारों व साहूकारों द्वारा हड़पना – जिनकी वजह से किसानों के लिए खाद्य पैदा व प्राप्त करना असंभव हो गया। परन्तु, कृषि के गिरते प्रवाह के

बावजूद, ये अकाल खाद्य की कमी के कारण नहीं हुए। वास्तव मे, ग्रेट बंगाल फैमिन (बंगाल अकाल, 1943–44) में, जिसमें 35 लाख से अधिक लोगों की जानें गईं, उस वर्ष के शुरू के सात महीनों में इंग्लैण्ड की फौजों व लोगों के उपयोग के लिए भारत ने 70,000 टन से भी अधिक चावल निर्यात किया था।(19) इतना ही नही! मधुश्री मुखर्जी ने अपनी किताब ''चर्चिल्स सीक्रेट वॉर्स'' में कहा कि उस साल ब्रिटेन के युद्धकालीन सर्वप्रमुख विन्स्टन चर्चिल, ऑस्ट्रेलिया से आ रहे अनाज भरे जहाज को रोक कर उसे इस ओर मोड़ सकते थे, पर उन्होंने ऐसा किया नहीं और जहाज भारत के बगल से गुजरता हुआ भूमध्य सागरीय इलाके की ओर बढ़ गया जहाँ पहले से ही अनाज का भंडार भरपूर था। वे लिखती हैं, ''सवाल चर्चिल के अकौशल का नहीं था: बंगाल को राहत भेजने की मांग बार–बार उठाई गई थी पर उन्होंने व उनके निकट सहयोगियों ने हर उस कोशिश को निष्फल किया।'' (20) 1948 के अकाल आयोग ने और अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने भी पाया कि अधिकांश 1943 में बंगाल में पूरे प्रदेश को खिलाने के लिए पर्याप्त चावल था।(21) लाखों एकड़ जमीन पर जहाँ घरेलू गुजर–बसर के लिए उत्पादन किया जा सकता था, वहाँ निर्यात के लिए फसलें उगाई जा रही थीं जिसने भारतीयों की खाद्य संकटों के प्रति संवेदनशीलता को बढ़ा दिया था।(22)

उड़ीसा के अकाल (1865–66) के बाद वॉयसरॉय लिटन ने नीति परिवर्तन व अकाल राहत का विरोध यहाँ तक किया कि उन्होंने एक आदेश ही कर दिया कि ''खाद्य की कीमतों को कम करने के लिए सरकार की ओर से किसी भी तरह का हस्तक्षेप नहीं होगा'', और जिला अधिकारियों को निर्देश दिया कि ''राहत कार्य को हर संभव हतोत्साहित करें.... राहत कार्य चालू करने के लिए मात्र विपत्ति पर्याप्त कारण नहीं है।'' (23) औपनिवेशिक राजकोष पर न्यूनतम भार पड़े, उसके लिए अकाल राहत खर्च को जितना कम हो सके करना, वास्तव में, शासन की अकाल नीति निर्धारण का एक महत्वपूर्ण घटक था।(24)

1880 में गठित अकाल आयोग ने 'फैमिन कोड' (अकाल संहिता) बना कर अकाल व खाद्य की कमी से निबटने के लिए जरूर कुछ सरकारी निर्देश व नियम तय किए परन्तु उन्हें लागू करने के लिए लिटन का स्वदेश लौटने तक इंतजार करना पड़ा, और वो अंततः अधिक उदार हृदय वॉयसरॉय रिपन के कार्यकाल में 1883 में पारित हुए। परन्तु, संहिता के बावजूद, अकाल से हुई मौतें उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी 25 सालों में सर्वाधिक रहीं।(25)

किसान आंदोलन व विद्रोह

अंग्रेज शासनकाल के दौरान, देश के विभिन्न भागों में आदिवासियों व किसानों के छोटे–बड़े विद्रोह होते रहे। कई मुद्दे सीधे–सीधे किसानी के नहीं रहे होंगें लेकिन गहन असंतोष की पृष्ठभूमि में कृषीय जीवन ही था। ये विद्रोह शासकीय वर्गों – अंग्रेज व उनके बिचौलिए जमींदारों व साहूकारों – द्वारा सामंतीय शोषण के खिलाफ था। 1857 में भारत की आजादी की पहली लड़ाई, जिसे अंग्रेजों ने 'सिपाही विद्रोह' की संज्ञा दी, वह भी वास्तव में विभिन्न आदिवासियों व किसान समूहों के संघर्षों व असंतोष की बुनियाद पर हुआ था। दरअसल में, उत्तर भारत में हो रहे किसानों के छुटपुट आंदोलनों की परिणति इस विद्रोह में हुई।(26)

नील की खेती का विरोध पहले–पहल 1860 व 1870 के दशकों में बिहार और बंगाल में हुआ जब किसानों ने ''नील का उत्पादन नहीं'' हड़ताल की। स्थानीय स्तर पर, कुछ आधी–अधूरी जीत भी हुई पर उसका पूरा निराकरण तभी हुआ जब 1917 में बिहार में गांधीजी ने चंपारण सत्याग्रह किया और नील की खेती को खत्म किया गया।(27)

1793 में बंगाल में स्थाई बंदोबस्त अधिनियम के तहत, सन्थाल लोग जिस भूमि पर शताब्दियों से खेती करते आए थे, वह जमींदारों को दे दी गई, यहाँ तक कि राजमहल की पहाड़ियाँ जहाँ उन्हें पुनःस्थापित किया गया था, उस पर भी जमींदार अपना मालिकाना हक जताने लगे। तब, 1855 में, सन्थाल संगठित हुए और जबरदस्त विद्रोह किया जो बिहार, उड़ीसा और बंगाल में फैला और हिसांत्मक भी रहा।

1874 में, पूर्वी बंगाल के किसानों ने एक किसान संघ की स्थापना की, जो कि देश में छोटे किसानों का संभवतः पहला औपचारिक व संगठित आंदोलन था, और जिसने जमींदारों द्वारा जालसाजी कर किसानों की जमीन कब्जाने के विरुद्ध विद्रोह किया। यह विद्रोह एक दशक तक चला, कई जगह पर कानूनी जंग भी चलीं, और उसकी परिणति बंगाल काश्तकारी अधिनियम 1855 में हुई जिसके तहत काश्तकारों को जमींदारों के दुष्टतम उत्पीड़न व अत्याचार से कुछ सीमित सुरक्षा मिली।(28)

1875 में, कपास के निर्यात में मंदी व खेती में संबंधित ह्रास के चलते किसानों पर अत्याधिक लगान के विरुद्ध, महाराष्ट्र के पुणे व अहमदनगर में विद्रोह हुआ (जिसे दक्खन उपद्रव कहा गया)। किसानों के

पास इसके अलावा कोई विकल्प नहीं था कि वे उन साहूकारों को चुन–चुन कर निकालें जिन्होंने परिस्थिति का फायदा उठा कर ऋण के एवज में बहुत सारी जमीनों को अपने पास गिरवी रख लिया था। कुछ हिंसा भी हुई पर अंततः किसानों ने ऋणपत्रों को छीन कर जला डाला और साहूकारों का सामाजिक बहिष्कार शुरू किया। किसानों की गिरफतारी भी हुई। सरकार ने विद्रोह की तहकीकात के लिए एक आयोग का गठन किया जिसकी सिफारिश पर कृषक राहत अधिनियम 1879 पारित किया गया जिससे किसानों की अपनी भूमि से विलगता या असंबद्धता पर रोक लगी।(29)

1857 के बाद, सरकार द्वारा भूमि कर बढ़ाने व अन्य मुद्दों को लेकर पूर्वी भारत – असम, नगालैण्ड, मिजोरम व मेघालय में भी विरोध हुए।

1946 में, देश की स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर, बंगाल में तिभागा आंदोलन देश में किसान संघर्षों में एक उदाहरणीय संघर्ष बना। उस समय, प्रथा थी कि फसल का साझा, काश्तकार और भू–मालिक के बीच बराबर होता था। किसान इस समीकरण को बदलने की मांग कर रहे थे कि काश्तकार का हिस्सा फसल का दो–तिहाई हो और भू–मालिक का हिस्सा घटा कर एक–तिहाई हो। किसान चाहते थे कि यह कानून भी बने। 1940 में भूमि व लगान आयोग ने इस मांग को जायज भी ठहराया था और तदानुसार विधेयक का एक मसौदा भी तैयार कर लिया गया था। परन्तु उस प्रस्ताव को बीच में ही इधर–उधर कर दिया गया और कानून बना नहीं। बंगाल में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी किसान सभा के जरिए यह मसला उठाया और 1946 से 1951 तक तिभागा आंदोलन के नाम से कई जगह विरोध हुए। जैसे–जैसे आंदोलन बढ़ा और उसका विस्तार हुआ उसमें ''जो जोते, उसकी जमीन'' की मांग भी उठने लगी, जो उस समय कमोबेश एक मौलिक व अतिवादी विचार था।

हालांकि तिभागा आंदोलन उस समय अपनी तात्कालिक मांग को लेकर सफल नहीं रहा, पर उसने दो महत्त्वपूर्ण पहलुओं को संबोधित और रेखांकित जरूर कर दिया था – उसने किसानों की कृषि के मुद्दों पर राजनैतिक चेतना को प्रतिबिंबित किया और, ज्यादा महत्वपूर्ण, आजादी के तुरन्त पहले देश में जो सांप्रदायिक विद्वेष फैल रहा था, उसने उसे कुछ थामने में मदद की।(30) आज तिभागा आंदोलन को किसान–संघर्ष में एक मील का पत्थर माना जाता है जिसने देश भर के छोटे किसानों के मूलभूत मुद्दों की ओर ध्यान खींचा और जिसने तब से अब, अपने बचे रहने व इज्जत से जीने के लिए लोक संघर्षों की

गहन चिंताओं को स्वर देते हुए बहस को एक ऊँचा स्तर प्रदान किया है।

भारत में अंग्रेज शासनकाल की पूरी अवधि में, ईस्ट इण्डिया कंपनी के राज से लेकर संप्रभु ब्रिटेन के शासन तक, लघु व सीमान्त किसानों व खेतीहर मजदूरों के व उनको प्रभावित करते कई आंदोलन व संघर्ष हुए हैं। उन अधिकांश आंदोलनों को हिंसा से दबाया या कुचल दिया गया, जिनमें देश भर में हजारों–हजारों किसानों ने अपनी जान गँवाई। उन विद्रोहों के बाद, अधिक कठोर कानून भी बने और अंग्रेजों व उनके सहयोगियों द्वारा देश पर नियंत्रण और सख्त हुआ।

पर इन संघर्षों ने औपनिवेशिक भारत में वृहद ग्रामीण समाज की व्यथाओं और यातनाओं तथा व्यापक सामाजिक व्याकुलता व अशांति को भी उजागर किया। हमारे लिए यह भी समझना महत्त्वपूर्ण होगा कि इन आंदोलनों ने किसानों के अदम्य साहस व प्रतिरोध को रेखांकित किया। शोषण चुपचाप नहीं सहा गया था, जो कई मायनों में लोगों की देश के स्वतंत्रता आंदोलन में व्यापक भागीदारी का पूर्वगामी था।

स्वतंत्रता पर एक क्षीण, जर्जर सोने की चिड़िया

प्राचीन भारत के लिए एक मुहावरा मशहूर था कि वह ''सोने की चिड़िया'' है। वह समृद्ध था और उसमें दक्षता थी। मध्य–पूर्व युग में उसकी संपन्नता की वजह से देश के भीतर राजशाहियों में बड़ी दुश्मनी और एक–दूसरे पर आक्रमण कर अधीनस्थ करने की होड़ सी लगी रहती थी। उसकी दौलत के लिए, बाहर से भी कई आक्रमण हुए – मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा जो क्रमशः यहीं बस कर इसी देश का हिस्सा बन गए। कोलम्बस और वास्को डि गामा जैसे साहसी नाविकों ने भी व्यापार की दृष्टि से यहाँ के लिए नए समुद्री रास्ते तलाशे। और कई यूरोपीय देश व्यापार के लिए इसकी छोर पर पहुंचे और तदोपरान्त यहाँ अपने उपनिवेश भी स्थापित किए। अंग्रेज करीब दो सौ सालों तक यहाँ के शासक बने रहे पर अलग–अलग समय में पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसियों के भी अपने–अपने छोटे उपनिवेश हुए। इन सभी विदेशी अधिवासियों का मकसद था इस देश की दौलत और प्राकृतिक संसाधनों का अधिक से अधिक दोहन और शोषण कर, यहाँ से कच्चा माल अपने देशों को ले जाना। अंग्रेजों ने यह काम बड़ी क्रूरता और चतुर सुस्पष्टता से – अपने हित में नियम, कानून व सामाजिक ढाँचा बना कर और जाति व वर्ग आधार पर समुदायों को एक–दूसरे के खिलाफ खड़ा कर के किया। उन्होंने देश के स्थापित तंत्रों व प्रणालियों को छिन्न–भिन्न किया, यहाँ के ज्ञान, परम्पराओं, मान्यताओं व प्रचलनों को बेकार व बकवास बताया, और अपने मानकों, आदर्शों, प्रचलनों व प्रयोजनों को स्थापित किया और फैलाया। और चूँकि भारतीय समाज कृषि प्रधान था, सो उन्होंने हमारी विविध कृषीय संपदा को मटियामेट किया।

एकमात्र यही तरीका था जिससे अंग्रेज इस देश और उसके लोगों का शोषण कर उन पर शासन कर सकते थे।

सो, जो ''सोने की चिड़िया'' अंग्रेजों को यहाँ खींच लाई थी और जिसने उनका यहाँ आगमन पर स्वागत किया था, वो वैसी नहीं रही थी, बल्कि एक जीर्ण–क्षीण, मरणासन्न सोने की चिड़िया थी जो उन्होंने हमें वापस जाते हुए लौटाई! अंग्रेज अपने पीछे एक दरिद्र भारत छोड़ गए – एक सामंतवादी सामाजिक तंत्र वाला विभाजित देश; गरीबी, भूख और रोग में डूबा एक समाज। आजादी के अवसर पर, भारत एक फटेहाल कृषि संरचना वाला देश था, जो अपने को ठीक से खिला भी नहीं सकता था और जो – जैसा कि प्रचलित मुहावरा भी बना – ''भीख का कटोरा'' थामे था।

औपनिवेशिक शासकों के नक्शेकदम पर

महात्मा गांधी औपनिवेशिक शोषण के व्यापक आयामों और उनके त्रासद परिणामों को बहुत पहले स्पष्ट समझ चुके थे। इसलिए, अंग्रेजों से भारत को आजाद करने के जिस संघर्ष का उन्होंने नेतृत्व किया वह एक मजबूत ग्रामीण आधार पर टिका था। उन्होंने सदा इस बात पर बल दिया कि ''असली भारत उसके चंद शहरों में नहीं, बल्कि उसके सात लाख गाँवों में मिलेगा। यदि गाँव खत्म हो गए तो भारत भी खत्म हो जाएगा।'' तभी उनका मानना भी था कि देश की स्वतंत्रता तभी मायने रखेगी जब ये गाँव अपने आप में स्वतंत्र होंगे। गांधीजी के लिए भारत का स्वराज, ग्राम–स्वराज था। भारत को लेकर उनका दिवास्वप्न ग्राम–गणतंत्र का था जहाँ ग्राम पंचायतों की अपनी शासन प्रणाली होगी और जो हर संभव मामले में आत्मनिर्भर होंगे। स्वराज की उनकी परिकल्पना में, कृषि पूरे विकास की नींव व धुरी थी।

निसंदेह, आजादी के समय देश के सामने विशाल व भयानक चुनौतियां थीं। लेकिन स्वतंत्रता मिली, उससे पहले ही गांधीजी और उनकी मान्यताओं, आदर्शों व विचारों को दरकिनार कर दिया गया था। अंग्रेजों से मिला देश बुरी दशा में था जिसे संपूर्ण जीर्णोद्धार की जरूरत थी पर अब जो सरकार थी उसमें गांधीजी सी संकल्पना व साहस नहीं था। अतः स्वराज से जो परिवर्तन आया वह अंततः सीमित व ठोस के बजाय सतही ही साबित हुआ। बेशक, हमारी अपनी सरकार अंग्रेजों की तरह शोषणकारी व लुटेरी नहीं थी, पर हम अब भी उन्हीं संरचनाओं व शासकीय प्रणालियों को स्वीकार कर उनके तहत काम कर रहे थे जिन्हें अंग्रेजों ने स्थापित किया और पीछे छोड़ गए थे। वही हमारे लिए शायकीय कार्यप्रणाली के लिए दिशानिर्देश, पैमाना, मापदंड, आधार व तरीका बने। स्वतंत्र भारत के नेताओं की दृष्टि में, आधुनिकता और विकास की ओर जाने के लिए, अभी भी ब्रिटेन व यूरोप ही प्रेरक थे। ग्रामीण भारत और उसकी प्रतिभा के कोई मायने नहीं थे। अंग्रेजों ने फूट डालने वाले हथकंडो को अपना कर लगभग दो सौ सालों तक शासन किया और विभिन्न हित वर्ग पैदा किए जो उनके काम आते थे। नए भारत की सरकार के लिए, जाने–अनजाने, यह खाई पाटने के लिए बहुत चौड़ी रही। अंततः सरकार ''अपनी बेखबरी में आर्थिक उपनिवेशीकरण की ही एजेन्ट बन गई।''(31)

जो तंत्र औपनिवेशिक हितों की सेवा करने का आधार था, वह प्रजातंत्र में स्थानीय लोक हितों के लिए कैसे कोई उपाय कर सकता था? तो, सर्वोच्च इरादों के बावजूद, स्वराज बहुसंख्यक जनता, अर्थात्

किसानों के उद्धार का वाहक नहीं बन सकता था। और वह नहीं बना।

स्वतंत्रता की तैयारी में, सत्ता का हस्तांतरण सुगम करने के लिए, संविधान सभा का गठन किया गया था। इस सभा का एक काम, देश का अपना संविधान लिखना भी था। इस संविधान सभा के सदस्य जनता द्वारा चुने नहीं, बल्कि शिक्षित व अमीर, प्रभावी वर्ग के विशिष्ट निर्वाचक मंडल द्वारा चुने गए थे। माहौल में एक जल्दबाजी सी थी और ऐसा लग रहा था कि अपने नेता आजादी पाने के लिए कुछ अधीर से हो गए हैं या तत्काल मिलने वाली आजादी उन पर इतनी हावी हो गई है कि वो बेसब्र हो गए हैं कि कब आजादी मिले और कब वो देश के पुनःनिर्माण का व उसे आधुनिक बनाने का काम शुरू करें और पश्चिमी देशों के बराबर जल्द से जल्द उसे ले जाएँ। नए शासक समूह को उत्साह था कि देश की गरीबी व पिछड़ेपन को दूर करने के लिए चुस्ती और फुरती से जुट जाना है। देश को आगे ले जाने के लिए गांधीजी अब उन्हें एकाएक बूढ़े और रेंगती चाल से चलने वाले दिखने लगे, और शायद एक बाधा भी। इतिहास से शिक्षा हम पूरी तरह जज्ब और आत्मसात नहीं कर पाए थे।

लेकिन गांधीजी अभी भी एक ताकत थे – नैतिक शक्ति तो थे ही – जिन्हें पूरी तरह दरकिनार भी नहीं किया जा सकता था। अतः जब नए संविधान का मसौदा तैयार हो गया तो संविधान सभा के नेताओं को लगा कि उसे गांधीजी को दिखा दिया जाए और वे उसका अनुमोदन कर दें तो ठीक रहेगा। संविधान सभा के अध्यक्ष डा. राजेन्द्र प्रसाद स्वयं वह मसौदा लेकर गांधीजी के पास गए। गांधीजी ने डा. राजेन्द्र प्रसाद से नए संविधान को लेकर कुछ सवाल किए और अंततः उन्होंने उस मसौदे को इस आधार पर खारिज कर दिया कि वह देश के यथार्थ को प्रतिबिंबित नहीं करता है क्योंकि उसमें कहीं भी किसान का कोई जिक्र नहीं है, न ही उसमें देश के सात लाख गाँवों के लिए कोई नियोजन है कि कैसे वे आत्मनिर्भर व आत्म–नियंत्रित एककों के रूप में अपना पुराना गौरव हासिल करेंगें। वास्तव में, गांधीजी ने अपनी मृत्यू से कुछ ही पहले एक वैकल्पिक संविधान का मसौदा भी तैयार कर लिया था, पर उनकी शहादत ने पूरे देश को ही इतना घेर दिया कि वो मसौदा उनकी विरासत के किसी पिछवाड़े में ही धूमिल पड़ा रह गया। और हमें एक ऐसा संविधान मिला जो पूरे लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

बाहरी मदद पर निर्भरता

आजाद भारत का जन्म पीड़ादायक था। गरीबी की कसक तो थी ही, तिसपर देश का विभाजन और

सांप्रदायिक दंगे। कृषि की दशा, जैसी अंग्रेजों से मिली, बदहाल थी और कुछ समय तक गंभीर ही बनी रही। आजादी के कुछ ही बाद, खाद्यान्न का आयात होने लगा था जो कि मुख्यतः अमरीका से 1956 में पी.एल.–480 संधि के तहत था। उस दौर में पी.एल.–480 का अनाज लिए जहाजों का इतनी आतुरता से इंतजार रहता था कि देश की खाद्य परिस्थिति के लिए ''सीधे जहाज से मुंह तक बसर'' मुहावरा ही गढ़ लिया गया था।

कृषि नियोजन में यही कोशिश हुई कि सिंचाई के अंतर्गत कृषि भूमि बढ़ायी जाए व उर्वरकों का उत्पादन भी। लेकिन प्रयास ज्यादा सफल नहीं रहे और 1960 के दशक में दो–दो युद्ध और दो साल सूखा पड़ने की वजह से स्थिति और भी बिगड़ गई जिसके फलस्वरूप खाद्यान्नों के आयात में तीव्र बढ़ोत्तरी हुई। 1965 में भारत–पाक युद्ध के दौरान, अमरीका ने खाद्य अनुदान भेजने की पेशकश की, लेकिन 1949–50 में जब देश में सूखे की स्थिति थी और खाद्य उपलब्धता बहुत कम थी तो उसी तरह के खाद्य अनुदान व ऋण को लेकर कड़वे अनुभव से तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री परिचित थे ही सो उन्होंने अमरीका की पेशकश ठुकरा दी। उसके बदले, खाद्यान्नों का बोझ कम करने के लिए उन्होंने देशवासियों से सप्ताह में एक बार उपवास रखने का विलक्षण आह्वान किया। यह देश का दुर्भाग्य ही था कि वे उसके बाद जल्दी ही चल बसे और उनके साथ ही, ग्रामीण विकास को गांधीवादी विचारों के अनुरूप करने की उम्मीद भी चली गई।

हरित क्रान्ति

देश की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी पर खाद्य उत्पादन उसके समानांतर नहीं हो पा रहा था, तो सरकार का लक्ष्य अब ज्यादा उगाने और उत्पादन बढ़ाने का हुआ। अमरीका के रॉकफेलर फाऊण्डेशन व फोर्ड फाऊण्डेशन ने विज्ञान में हुई प्रगतियों को विकासशील देशों को हस्तांतरण करने व उनकी परिस्थितियों में ढालने में सहयोग के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान प्रणाली स्थापित करने की पहल की।(32) 1959 में, फोर्ड फाऊण्डेशन की रिपोर्ट ''भारत का खाद्य संकट व उससे निबटने के उपाय'' तथा रॉकफेलर फाऊण्डेशन द्वारा अर्द्ध–उष्णकटिबंधी, उष्णकटिबंधी व मानसूनी जलवायु क्षेत्रों के लिए उर्वरक–अनुकूल खाद्यान्न किस्मों को प्रजनित करने के प्रयासों (33) ने भारत की कृषि प्रणाली में बड़े हस्तक्षेप व परिवर्तन के लिए जमीन तैयार की।

अन्यत्र, फिलीपीन्स में अंतर्राष्ट्रीय धान अनुसंधान संस्थान में धान संकरण की कुछ कोशिशें हुई थीं और 1963 में, डा. नॉर्मन बॉरलॉग द्वारा जापानी अर्द्ध–बौनी प्रजातियों का मेक्सिको मूल के गेहूं के साथ संकरण से विकसित अर्द्ध–बौनी प्रजाति के फील्ड परीक्षण के परिणाम बहुत उत्साहजनक रहे थे। इन नई विकसित प्रजातियों को एच.वाई.वी. (अधिक–उपज–किस्म) नाम दिया गया। 1963 में ही, बीज उत्पादन में गुणवत्ता नियंत्रण व प्रशिक्षण के उद्देश्य से राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गई। यह रॉकफेलर फाऊण्डेशन व यू.एस.ए.आई.डी. के सहयोग से हुआ।(34)

भारत में भी इन प्रयोगों के शुरुआती वर्षों में बहुत अच्छे परिणाम आए और गेहूं के अलावा धान और ज्वार–बाजरा में भी। अतः 1967 में, भारत सरकार ने एक अधिक–उपज–किस्म कार्यक्रम शुरू किया, जो हरित क्रान्ति के नाम से जाना गया। इन प्रयासों से उपजी उम्मीदों को दर्ज करने के लिए, 1968 में एक विशेष डाक–टिकट ''गेहूं क्रान्ति'' तक जारी किया गया।

देश में कृषि में हो रहे विकास पर डा. एम.एस. स्वामीनाथन ने लिखा, ''यह स्पष्ट हो गया कि भारत के पास अपनी कृषि की नियति व दिशा को आकार देने के साधन थे।''(35) डा. स्वामीनाथन ने आगे लिखा, ''जुलाई 1964 में सी. सुब्रहमणियन, केन्द्रिय खाद्य व कृषि मंत्री बने और उन्होंने सिंचाई के पानी व खनिज उर्वरकों के साथ अधिक–उपज–किस्मों को व्यापक स्तर पर फैलाने के लिए अपना पूरा समर्थन दिया।''(36)

वह प्रौद्योगिकी एक वरदान मानी जाने लगी। और भारत में जहाँ 1960 के मध्य दशक में ग्रामीण जनसंख्या का 50 से 65 प्रतिशत हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर कर रहा था, 1993 तक आते–आते वह संख्या धीरे–धीरे ग्रामीण जनसंख्या की करीब एक–तिहाई रह गई।(37)

हरित क्रान्ति एक संपूर्ण कार्यक्रम था जिसके अपने अलग व पक्के अनुसंधान व प्रसार घटक थे। इससे 1978–79 में 13.1 करोड़ टन रिकार्ड अनाज उत्पादन हासिल करने में बड़ी मदद मिली। 1947 से 1979 तक प्रति खेत उपज 30 प्रतिशत से अधिक बढ़ी।(38) हरित क्रान्ति के दौरान गेहूं और धान की उपज में नाटकीय वृद्धि से अधिक–उपज–किस्मों के क्षेत्रफल में भी काफी बढ़ोत्तरी हुई। 1969 में, उत्तर प्रदेश स्थित (अब उत्तराखण्ड में) गोविंद बल्लभ पंत कृषि विश्वविद्यालय व विश्व बैंक ने संयुक्त रूप से तराई बीज निगम की स्थापना की जिसके लिए विश्व बैंक ने 1.3 करोड़ अमरीकी डॉलर का ऋण मुहैया कराया और जिसके चलते भारतीय कृषि प्रणाली का समरूपीकरण व निगमीकरण हुआ।(39)

इन परियोजनाओं का उद्देश्य हरित क्रान्ति बीज प्रजातियों का उत्पादन बढ़ाने के लिए सरकारी संस्थानों को विकसित कर एक नई अवसंरचना पैदा करना था। (40) 1988 में विश्व बैंक ने भारत के बीज क्षेत्र को 15 करोड़ अमरीकी डॉलर का चौथा ऋण दिया – उसे 'बाजार अनुकूल' बनाने के लिए। (41) बेशक, हरित क्रान्ति के प्रसार में, बीज उद्योग के निजीकरण को प्रोत्साहित करने में तथा बहुराष्ट्रीय बीज निगमों के लिए भारत के दरवाजे खोलने में विश्व बैंक की भूमिका अहम रही है। और सिर्फ बीज उद्योग ही नहीं! विश्व बैंक, कृषि–रासायनिक कंपनियों का भी जबरदस्त समर्थक रहा है व आज तक है।

अधिक उपज और लाभकारिता से किसानों ने भी गेहूं और धान का क्षेत्रफल बढ़ाया। (42) साथ ही, चूँकि इन फसलों की उगने की अवधि कम थी और अधिक सिंचाई भी उपलब्ध होने लगी थी, किसान अपनी जमीनों पर ज्यादा फसलें उगाने लगे। और एक साथ ही, बाजार के व अपने लिए अलग–अलग खेती करने लगे। हरित क्रान्ति ने कृषि में मशीनीकरण को भी जबरदस्त बढ़ावा दिया। कुल मिलाकर, हरित क्रान्ति से खेत से ज्यादा आमद हुई, जिससे खेत उत्पाद व सेवाओं की माँग बनी व बढ़ी, रोजगार के ज्यादा अवसर मिले, कृषि व गैर–कृषि क्षेत्र में वेतन अधिक हुआ और ग्रामीण आर्थिकी को बल मिला।

भारत, जिसे पी.एल.–480 के तहत अधिकतम खाद्य अनुदान मिला था, वह एक खाद्य–विपन्न देश से अब खाद्य–संपन्न देश हो गया था। इस परिवर्तन ने भारत को अपने ऊपर से ''सीधे जहाज से मुंह तक बसर'' का तगमा हटाने में और अपने को खाद्य असुरक्षा के उस जाल से निकालने में मदद दी जिसमें वो लंबे समय से फंसा रहा था।

अधिक–उपज–किस्मों की चमत्कारी उपज की वजह से हरित क्रान्ति ने हरेक के मन व कल्पना पर कब्जा किया और वह पूरे देश में बड़ी तेजी से फैली, यहाँ तक कि आधिकारिक स्तर पर किसी भी अन्य प्रौद्योगिकी या प्रयोग के बारे में या तो सोचा ही नहीं गया या उसे हरित क्रान्ति से तुलना करने लायक माना ही नहीं गया। हरित क्रान्ति का प्रचार, हर कृषि सवाल व समस्या के समाधान के तौर पर होने लगा।

दुर्भाग्यवश, वह दावा और हरित क्रान्ति ने जिस उम्मीद को जन्म दिया, वे एक दशक से ज्यादा नहीं टिक सके।

बोझ बढ़ता गया

हरित क्रान्ति के मूल सिद्धांतों के तहत सिंचित परिस्थितियों में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के साथ अधिक–उपज बौनी किस्मों का प्रयोग था। अत: यह प्रौद्योगिकी दरअसल अपने लक्ष्य और विस्तार में सीमित थी। उसका आधार बस दो या तीन ही घटक थे (जबकि खेती मूलत: अनगिनत घटकों का संलय है) और वह भी सिर्फ सिंचित इलाकों के लिए (जबकि देश में अधिकांश खेती शुरू से ही असिंचित और वर्षा आधारित रही है)। साथ ही, हरित क्रान्ति की खेती एक पैकेज के रूप में आयी, जो सिर्फ बड़े व अमीर किसानों के लिए उपयुक्त थी और बहुसंख्यक छोटे किसानों के मुद्दों का कहीं कोई हवाला नहीं था।

परन्तु कई कारणों से – आजादी के पहले एक–दो दशकों में देश में कृषि में ठहराव और खाद्य का अभाव और संभवत: उसके फलस्वरूप, उस समय सरकार की हताश मन: स्थिति – वह प्रौद्योगिकी एक वरदान की तरह आई, और एक जादू या चमत्कार की तरह लगी। संकर प्रजाति के बीजों को 'चमत्कारिक बीज' शब्दावली से भी संबोधित किया जाता था!

अगर हरित क्रान्ति एक चमत्कार थी तो हमें यह भी याद रखना होगा कि चमत्कार कभी–कभी ही होते हैं और अक्सर दोहराए नहीं जाते हैं या लंबे समय तक नहीं रहते!

एक दशक व थोड़े ही कुछ और समय में, यह प्रौद्योगिकी अपनी कीमत वसूलने लगी थी और हरित क्रान्ति का महिमा मण्डन, उसकी सफलताएं व उसके इर्द–गिर्द जो उत्साह हुआ करता था, वह छितराने लगा। निश्चय ही, एक गुब्बारे को एक हद तक ही फुलाया जा सकता है!

एक अत्यधिक कीमत पर

सबसे पहले खेतों में किसानों ने और फिर कृषि के मुद्दों पर काम कर रहे शोधकर्त्ताओं व नागरिक समाज को एहसास होने लगा कि हरित क्रान्ति की जो सफलताएं थीं और देश के लिए उसके जो फायदे हुए, वे अत्यधिक कीमत पर हो रहे थे। और हर फसल–चक्र के साथ यह एहसास गहराता रहा कि हरित क्रान्ति से जिस–जिस लाभ का दावा किया जाता था, वह हर लाभ समय के साथ–साथ या तो एक नकारात्मक प्रभाव के साथ आया या उसमें परिणत हुआ। ये नकारात्मक प्रभाव सब एक साथ नहीं आए;

उनकी परत पहले तो धीरे–धीरे खुली पर फिर समय के साथ–साथ उन प्रभावों की रफ्तार तेज हुई और फिर मानों वे संचित ब्याज के साथ आने लगे! यह दिखने और समझ में आने लगा कि –

- गेहूं और धान के बढ़ते क्षेत्रफल के मायने यह हुए कि अन्य फसलों, जैसे दालें, तिलहन, ज्वार–बाजरा, आदि के लिए क्षेत्रफल घटा और उनकी उपलब्धता कम हुई।

  गेहूं और धान उगाने पर ही पूरा जोर दिए जाने से अन्य अनाजों की खेती में कमी आई। गेहूं और धान ने ही अधिकांश सिंचाई का पानी खींचा और उन्हीं में अधिकाधिक उर्वरकों का इस्तेमाल हुआ। साथ ही, सरकार की मूल्य समर्थन व खरीद नीतियाँ मुख्यतः गेहूं और धान के ही फायदे के लिए रहीं। इसका एक दूरगामी प्रभाव यह रहा कि लोगों की खाद्य व पोषण की सुरक्षा में कुल कमी आई। 1966 में, अनाजों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता 359.9 ग्राम प्रति दिन थी जो कि 1971 में 417.6 ग्राम प्रति दिन और 1986 तक 434.3 ग्राम प्रति दिन बढ़ी। परन्तु उसकी तुलना में दालों की उपलब्धता, हरित क्रान्ति से पहले, 1966 में 48.2 ग्राम प्रति दिन थी पर 1986 तक हरित क्रान्ति से पहले के स्तर से भी कम 44 ग्राम प्रति दिन रह गई।(43)

- रासायनिक उर्वरकों के बढ़ते प्रयोग से मिट्टी में नैसर्गिक खनिज पदार्थों का पूरा ह्रास हुआ।

  बहुत समय पहले से यह समझ में आ चुका है कि हरित क्रान्ति के झण्डा–बरदार अधिक–उपज–किस्म, वास्तव में ''अधिक–प्रतिक्रियात्मक'' किस्म हैं, जिनमें रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और सिंचाई की स्थिति में ही अनुक्रिया होती है। उन्हीं की वजहों से वे किस्में इतना अधिक उत्पादन दे सकीं। लेकिन खेती में रसायनों के अत्याधिक इस्तेमाल से मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरता खत्म हुई और देश भर में सभी किसानों का यह अनुभव रहा कि अपने पुराने उत्पादन स्तर मात्र को बनाए रखने के लिए उन्हें अब हर साल अधिकाधिक रसायनों का इस्तेमाल करना पड़ रहा है – और अब तो वह भी काम नहीं कर रहा है।

  रसायनों के प्रयोग से, मिट्टी और भूमिगत पानी जहरीला हो रहा है, जो कि हमारी पूरी खाद्य श्रृंखला को – हमारे लिए और जानवरों के लिए – बहुत अस्वस्थ बना रहा है।

  पंजाब इस बात का जीता–जागता व त्रासद उदाहरण है कि हरित क्रान्ति कैसे स्वजाति–भक्षी बन

चुकी है, जो अपनी ही संतति को खा रही है! पंजाब की खुशहाली के कारण आज उसके लिए अभिशाप और निराशा का कारण बन गए हैं। कैंसर से मौत, आनुवंशिक खामियाँ, गुरदा रोग व पात, मरे बच्चे पैदा होना या किसी खामी के साथ पैदा होने जैसे गंभीर रोग की खबरें आए दिन वहाँ से आती रहती हैं, शोधकर्त्ता जिनका कारण कीटनाशकों व पातनाशकों का अत्यधिक प्रयोग व दुरुपयोग मानते हैं। पंजाबी विश्वविद्यालय ने कीटनाशकों व पातनाशकों का प्रयोग करने वाले 210 किसानों का अध्ययन किया और पाया कि उनमें से एक-तिहाई किसान डी.एन.ए. क्षति से प्रभावित थे, जितना कि उम्र की वजह, सिगरेट-बीड़ी पीने व अन्य खान-पान की आदतों से भी नहीं होता। (44) वैज्ञानिकों ने यह भी पाया कि जिन गाँवों में अधिक कीटनाशकों का इस्तेमाल होता है वहाँ कैंसर की दर भी अधिक है।

दरअसल समस्या का एक कारण यह भी है कि कीटनाशक उद्योग को लेकर कानून अपर्याप्त तो हैं ही, उनका कार्यान्वयन व उद्योग का नियमन भी कमजोर ही है। 2011 में, कृषि मंत्री शरद पवार ने स्वीकार किया कि दुनिया के अन्य देशों में प्रतिबंधित 67 कीटनाशकों का भारत में व्यापक इस्तेमाल हो रहा है। (45) पंजाब में किसानी के मुद्दों पर काम कर रहे गैर-सरकारी संगठन खेती विरासत मिशन के उमेन्द्र दत्त कहते हैं, ''ज्यादा आश्चर्यजनक और दहलाने वाली बात यह है कि किसान अलग-अलग कीटनाशकों का कॉकटेल बना कर इस्तेमाल करते हैं। इस खतरनाक मिश्रण का लगभग हर दूसरे-तीसरे दिन छिड़काव किया जाता है। प्रसार अधिकारी या कीटनाशक उद्योग के वितरक एजेन्ट किसानों को ऐसा करने से हतोत्साह भी नहीं करते हैं।'' (46) वास्तव में, अधिकांश तो किसानों को मालूम ही नहीं होता कि इन कीटनाशकों के इस्तेमाल व निपटान के सही तरीके क्या हैं, और इन अत्यधिक विशाक्त रसायनों को इस्तेमाल करते समय कम ही लोग सुरक्षात्मक कपड़ों या साधनों का प्रयोग करते हैं। गाँवों में तो कीटनाशकों के खाली पात्रों को कभी-कभी रसोईघर में उपयोग के लिए भी पुनः प्रयोग में लाया जाता है। (47)

इससे स्पष्ट है कि कृषि विभाग का प्रसार कोष्ठ जो हरित क्रान्ति के फैलाव में एक मुख्य घटक चिन्हित किया गया था, वो या तो अपनी जिम्मेदारी निभाने में असफल रहा है या फिर इस समस्या से जूझने की अब उसमें क्षमता ही नहीं है। साथ ही, इसके मायने यह भी हैं कि ''अधिक और अधिक उत्पादन'' का लोभ (बड़े किसानों के संदर्भ में) व हताशा अथवा जानकारी की कमी (छोटे व सीमांत

किसानों के संदर्भ मे) पंजाब में खेती पर हावी हो चुके हैं। पंजाब का क्षेत्रफल, भारत का मात्र 1.5 प्रतिशत है पर उसका कीटनाशक उपभोग पूरे देश का 20 प्रतिशत है।(48)

खेती में रासायनिक निवेशों के प्रयोग व दुरुपयोग, मानव, पशु, पक्षी, कीड़ों व समस्त पर्यावरण से भारी कीमत वसूल चुके हैं। कीटनाशकों के छिड़काव से मित्र–कीट भी मरें हैं और साथ ही, उनके लगातार प्रयोग से, स्वयं शत्रु–कीटों ने कीटनाशकों के विरुद्ध प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर ली है जिससे वे अब और बड़े स्तर पर, ज्यादा विकराल रूप में फसलों को दुष्प्रभावित करने लगे हैं।

हाल के काफी सर्वेक्षणों और अध्ययनों ने मधुमक्खियों की बड़े स्तर पर मरने की जानकारियां दी हैं। उनकी पूरी की पूरी डार का विनाश हो रहा है। यह तो हम जानते ही हैं कि अधिकांश पौध प्रजातियां व पौध उत्पाद जिन्हें हम या जानवर खाते हैं, वे फलने–फूलने के लिए सीधे या परोक्ष रूप से परागण पर निर्भर रहते हैं, और मधुमक्खियां हमारे सर्वश्रेष्ठ परागणकर्त्ता हैं। ऐसे में, मधुमक्खियों का ह्रास हमारी फसलों की मात्रा व गुणवत्ता, दोनों को कुप्रभावित करता है। मधुमक्खियों की मृत्यु का कारण कृषि व बागवानी में कीटनाशकों और फंगसनाशकों व अन्य रासायनों का प्रयोग माना जा रहा है। मधुमक्खियों के इस तरह विनाश को यदि तुरन्त रोका नहीं गया तो हमारे खाद्य उत्पादन के लिए गंभीर समस्या खड़ी हो जाएगी।

- सिंचाई, जो वास्तव में अक्सर अत्याधिक सिंचाई ही हो जाती है, उससे मिट्टी का लवणीकरण हुआ है और भूमिगत जल भंडार कम हुए हैं और भूमि जल–स्तर नीचे गया है।

भारत में सिंचाई के लिए उपयोग किया जा रहा लगभग आधा पानी भूमिगत जल भंडारों से आता है। विश्व बैंक की 2010 की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में भूमिगत जल एक महत्त्वपूर्ण संसाधन है जो 65 प्रतिशत सिंचाई का पानी व 85 प्रतिशत पेयजल आपूर्ति करता है। रिपोर्ट यह भी सचेत करती है कि उपयोग का मौजूदा स्तर यदि जारी रहा तो अगले 20 सालों में 60 प्रतिशत भूमिगत जलस्त्रोत गंभीर अपक्षीण की स्थिति में आ जाएंगें।(49) उपग्रह से प्राप्त हाल की जानकारी के अनुसार देश के सर्वाधिक प्रभावित उत्तर–पश्चिम राज्यों में, 2002 से 2008 तक भूमिगत जलस्तर की औसत गिरावट 33 सेंटीमीटर प्रति वर्ष रही है।(50)

पंजाब में एक अन्य अध्ययन में पाया गया कि धान–गेहूं की फसल प्रणाली ने भूमिगत जल में कमी

की समस्या को तीव्र किया है और खेती, खासकर सिंचाई के लिए मुफ्त बिजली की आपूर्ति की वजह से सिंचाई के पानी का बेहिसाब, बेतरतीब, विवेकहीन उपयोग हुआ है। (51) अध्ययन इस बात को भी कहता है कि जल–उपयोग पर नियमन की कमी से अमीर किसानों ने भूमिगत जल का अत्यधिक दोहन किया है जिससे नैसर्गिक संसाधन आधारित छोटे या गरीब किसान भूमिगत जल से वंचित रहे हैं। (52) ये सब इसलिए हुआ है कि अधिक–उपज व संकर प्रजातियां ज्यादा से ज्यादा पानी मांगती हैं। सिंचाई के लिए भूमिगत जल के अत्यधिक निष्कर्षण ने भूमिगत जलस्तर क्रमतर नीचे किया है और अपने खेतों में पानी के लिए किसान और गहरा–अधिक–गहरा खोदते चले हैं।

भूमिगत जल भंडार व जलस्तर में कमी के अलावा, सिंचाई व भूमिगत जल के अत्यधिक दोहन से दो अतिरिक्त समस्याएं खड़ी हुई हैं। एक, उससे निरपवाद तौर पर मिट्टी और पानी का लवणीकरण हुआ है जो पौधों के विकास को अवरुद्ध करता है; और दूसरा, भूमिगत जल को बार–बार ऊपर खींचने से उसमें अक्सर आर्सेनिक, फ्लोराइड व अन्य हानिकारक रसायनों के अंश अधिक मात्रा में पाए जाने लगे हैं। (53)

उपरोक्त के अलावा, हरित क्रान्ति के प्रयोगों के कई अन्य दुष्प्रभाव हैं जो उसकी मात्र प्रौद्योगिकी से बहुत आगे की बात हैं और जिनका लघु व सीमांत किसानों व अन्य लोगों के लिए सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक स्तर पर दूरगामी निहितार्थ हैं।

विविधता का मृत्यु आह्वान

हरित क्रान्ति अपनी सफलता के लिए लगभग पूरी तरह गेहूं और धान पर आश्रित थी, जिसकी कीमत किसान समुदायों को अन्य फसल उगाना छोड़ कर चुकानी पड़ी। एकधान्य खेती न तो फसल व भूमि और न ही मानव पोषण के लिए अनुकूल या उचित रही है। उसने रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग को सरल व कारगर जरूर बनाया है, पर अंततः अधिकाधिक कीट आक्रमण हुए जिनसे ज्यादा नुकसान हुआ। एकधान्य खेती में कीट आक्रमण या तो पूरी फसल को नष्ट कर देते हैं या मजबूरन अधिकाधिक कीटनाशकों का, अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग करना पड़ता है जिससे खेती में रसायनों के प्रयोग से जुड़ी बाकी सब समस्याएं बढ़ती रहती हैं। मिश्रित खेती में कीट, प्रजाति विशेष पर ही आक्रमण करते हैं और खेत में खड़ी पूरी फसलों का सफाया नहीं होता, जिससे फसल पकने पर उत्पादन का पर्याप्त हिस्सा किसान के बटोरने के लिए बचा रह जाता है।

एकधान्य खेती के मायने यह भी हैं कि आप एक ही समय पर बीज बोओ या पौधा लगा दो और निर्धारित समय के बाद एक साथ ही पूरी फसल काट लो। इसकी तुलना में, मिश्रित खेती में बुवाई को फसल के अनुसार आगे–पीछे, अलग–अलग समय पर करना होता है, और उसी तरह फसल कटाई भी अलग–अलग समय का अंतराल रखते हुए, अलग–अलग फसलों के पकने के अनुसार की जाती है। उदाहरण के लिए, बारानाजा उत्तराखण्ड की एक अति विकसित, खरीफ की पारम्परिक मिश्रित खेती की पद्धति है जिसमें एक दर्जन से कम या अधिक फसलें एक ही खेत में उगाई जाती हैं। इससे यह सुनिश्चित रहता है कि बढ़ने की शुरुआती अवधि के बाद लगभग हर महीने कुछ न कुछ घर में आ रहा है – चाहे इंसान या जानवरों के उपभोग के लिए। लोगों की खाद्य सुरक्षा का यह एक अहम पहलू है जिसे एकधान्य खेती ने समूल नष्ट किया है। विविध किस्में व विविध आहार, विभिन्न स्वादों व मानव शरीर के पोषण की विभिन्न जरूरतों को पूरा करती हैं।

हरित क्रान्ति ने अंतर–प्रजाति व आंतर–प्रजाति दोनों स्तरों पर कृषीय–जैवविविधता की मृत्यु का आह्वान किया है। मोटा–मोटा अनुमान है कि अब तक विश्व की फसल विविधता का 75 प्रतिशत खत्म हो चुका है। अंतर–प्रजाति स्तर पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हरित क्रान्ति ने गेहूं और धान को प्रोत्साहित किया पर अन्य फसलों की अवहेलना की है या उन्हें दरकिनार किया है, और जो धीरे–धीरे चलन से बाहर हो गए। अंतर–प्रजाति के स्तर पर स्वयं गेहूं और धान में अद्भुत विविधता भी प्रभावी तौर पर हाशिए पर धकेल, विधिवत् रूप से खत्म कर दी गई है। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र में धान की सैकड़ों मौलिक व सुस्पष्ट किस्में होती थीं जिनकी संख्या पूरे देश में कुल मिला कर हजारों–हजार थीं। शताब्दियों से, समुदायों ने धान की अलग–अलग किस्मों का उपभोग, अलग–अलग मौसम, अवसर व जरूरत के हिसाब से किया। गेहूं की स्थानीय व पारम्परिक प्रजातियां भी बहुत हैं, हालांकि धान जितनी नहीं। पर यदि हम हरित क्रान्ति के तहत प्रोत्साहित व प्रयोग की जा रहीं गेहूं व धान की किस्मों पर नजर डालें तो पाएंगें कि ये बस मुट्ठी भर हैं और वो भी एक अति संकीर्ण आनुवंशिक मूल आधार से ली गईं। आज पूरे विश्व में खायी जा रही कैलोरी की मात्रा का आधा से अधिक भाग, सिर्फ तीन पौध प्रजातियों से आ रहा है।(54) जब किसान और खासकर छोटी जोत वाले किसान इतने संकीर्ण आनुवंशिक आधार के बल पर खेती करते हैं तो वे अपनी कृषि और अपनी खाद्य सुरक्षा को अत्यंत कमजोर व सुभेद्य बना देते हैं।

कृषीय–जैवविविधता के इस ह्रास में पारम्परिक व्यंजनों व स्थानीय बीजों का भी ह्रास है। बीजों के मामले में समुदाय, क्षेत्र व देश के संग्रह तो और भी समृद्धशाली रहे हैं। सो, देखा जाए तो फसलों की विविधता में कमी से ज्यादा बीजों की विविधता के ह्रास ने छोटे किसानों और उनके समुदायों के अधिकार व सत्ता, आर्थिकी और आत्मनिर्भरता को खत्म किया है और उन्हें बाजारी शक्तियों का लगभग गुलाम बना के रख दिया है।

पारम्परिक तौर पर किसान अपनी अगली बुवाई के लिए अपने खेत के बीजों का चयन कर संभाल कर रखते थे, और अगर जरूरत पड़े तो अपने पड़ोसियों, रिश्तेदारों व अपने गाँव व आसपास के गाँवों में अन्य लोगों से ले लेते थे। उन बीजों का या तो मुफ्त आदान–प्रदान होता था या उन्हें अन्य बीजों के एवज में अदल–बदल किया जाता था। उन्हें शायद ही कभी खरीदा जाता था।

उनके अपने बीज न होने से या अधिक–उपज–किस्म फसलों के इस्तेमाल का मतलब है कि बीजों के लिए किसान अब सरकारी भंडार या बाजार व स्थानीय बीज व्यापारी पर आश्रित हो गए हैं। यह उन्हें सीधा–सीधा आर्थिक रूप से प्रभावित करता है और उनकी खेती में निवेश का खर्च बढ़ाता है। इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण, और खासकर महिलाओं के लिए, इस तरह की बाहरी निर्भरता का मतलब है स्वयं किसानों के खेती के कौशल – जैसे, अच्छी गुणवत्ता के बीजों का चयन, एकत्रण व संरक्षण; बीज का प्रगमन; पौध प्रजनन; बहु कीट–प्रबंधन तकनीकें; तथा स्थानीय कृषीय–जैवविविधता का उनका ज्ञान – का ह्रास। (55) महिलाओं के लिए कौशल के ह्रास के मायने हैं, घर–परिवार या समुदाय स्तर पर उनके उस ओहदे व सत्ता का भी ह्रास, जो पहले उनका हुआ करता था (56)

अंततः, एकधान्य खेती प्रणाली ने खाद्य और कृषि के बोध को ही उलट दिया है। पहले, फसलों की विविधता का मतलब होता था खेतों में आहार उग रहा है, आहार जो तृप्त करता है और जो आदरणीय है। फसलों व अनाजों को एक विशेष पवित्रता व श्रद्धा का दर्जा हासिल था और उनका अनादर व अपव्यय हतोत्साहित किया जाता था। हरित क्रान्ति व एकधान्य खेती ने उस दृष्टि व मान्यता को ही बदल दिया है। चूँकि अब उत्पादन ही कृषि की प्रमुख प्रेरणा व औचित्य हो गया है जिसके लिए रसायनों का प्रयोग जायज हो जाता है, अतः खेत में उग रही फसलें मात्र उपभोग के लिए अनाज होकर रह गई हैं। उनमें कोई पवित्रता, कोई शुचिता नहीं रही।

हरित क्रान्ति ने लघु किसानों को सामाजिक–आर्थिक व बौद्धिक स्तर पर दरिद्र किया है।

असमानता, सामाजिक–आर्थिक विभाजन व अन्याय

हरित क्रान्ति की ओर से यह दावा किया जाता रहा है कि उससे देश में खाद्य पर्याप्त हुआ व भुखमरी खत्म हुई। लेकिन उसका दर्शन व पथ प्रौद्योगिकी पर आधारित था न कि सामाजिकी पर। उसने कृषक समाज में वर्ग विभाजन को अधिक गहरा किया और असमानताओं व अन्याय की धार तेज की। बड़े व अमीर किसानों ने उससे फायदा उठाया व और भी बड़े व अमीर बने, जबकि छोटे किसान बेरोजगारी, गरीबी व भुखमरी की ओर धकेले गए।

कृषि में उपलब्ध इमदाद का सबसे ज्यादा फायदा बड़े किसानों ने ही लिया। और जो भी चकबंदी हुई वह भी अमीरों के ही हित में हुई है। खेती में ज्यादा जमीन आने से अमीर किसानों ने हल लगाने से लेकर फसल कटाई तक में फटाफट मशीनीकरण अपनाया, जिन सब ने आय में विषमताओं को बढ़ाया और यह भी हुआ कि छोटे किसानों के लिए जमीनें कम होने लगीं। मशीनीकरण ने भूमिहीन किसानों को, जो खेतीहर मजदूरी से अपना जीवनयापन करते थे, प्रभावी तौर पर हाशिए पर किया। एक अन्य स्तर पर, मशीनीकरण से पशुधन, खासकर बैल, कम हुए जिसके फलस्वरूप गोबर की कुल खाद कम हुई। ये वास्तव में कारण–व–प्रभाव की एक लंबी श्रृंखला है।

जब हम हरित क्रान्ति के योगदान का मूल्याँकन करें तो हमें यह सवाल भी करने की जरूरत है कि वह भुखमरी के मुद्दे को सुलझाने में कितनी सफल रही है? अफसोस कि इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। हरित क्रान्ति का मुख्य लक्ष्य उत्पादन बढ़ाना था जबकि भूख मूलतः किसी व्यक्ति या परिवार की आहार तक पहुँच में कमी से, उसकी खाद्य उगाने या खरीदने की असमर्थता से है। यह असमर्थता मुख्यतः सामाजिक असमानता व अन्याय का परिणाम होती है क्योंकि बावजूद इसके कि विश्व में पर्याप्त अन्न उगाया जा रहा है, आज की तारीख में भी 92.5 करोड़ लोग भूख व कुपोषण से ग्रस्त हैं। विश्व बैंक द्वारा 1986 में भूख पर किए गए एक अध्ययन में स्वीकार किया गया कि ''खाद्य सुरक्षा की समस्याएं जरूरी नही हैं कि अपर्याप्त खाद्य आपूर्ति का परिणाम हों, जैसा कि व्यापक तौर पर माना जाता है, वरन् वे देशों व परिवारों में क्रय शक्ति की कमी से होती हैं।'' रिपोर्ट में आगे लिखा है, ''खाद्य उत्पादन को सर्वोपरि मानना गलत है अगर हमारे लिए उसकी प्राथमिकता अन्य तात्कालिक चिंताओं से ऊपर है। ऐसी एक चिंता है कि कई गरीब देशों, और हजारों–लाखों गरीब लोगों को दुनिया की प्रचुर खाद्य आपूर्ति का एक छोटा हिस्सा भी मुहैया नहीं हो पाता है।'' (57)

उत्पादन का संकीर्ण उद्देश्य अंततः अपने ही लक्ष्य का ह्रास करता है क्योंकि वह संसाधन के उस आधार को ही खत्म कर देता है जिस पर कृषि टिकी रहती है। गरीबों की अशक्तता को संबोधित करते परिवर्तन की किसी भी रणनीति के अभाव का त्रासद परिणाम यह होगा कि खाद्य ज्यादा होगा पर भुखमरी भी ज्यादा होगी।(58)

लघु किसानों के लिए विफल होते परिदृश्य और बड़े किसानों के लिए तत्काल लाभ ने कंपनियों के लिए कृषि व संबंधित मामलों पर अपना नियंत्रण सख्त करने का रास्ता साफ किया। देश में अनाज की मात्रा जरूर बढ़ी, पर उसी रफ्तार से भुखमरी भी। हरित क्रान्ति ने वास्तव में और अंततः यही हासिल किया।

हरित क्रान्ति या हरित भ्रान्ति!

पीछे देखें तो दिखता है कि हरित क्रान्ति कोई जादू या चमत्कार नहीं परन्तु हाथ की सफाई थी, और स्तब्ध दर्शकों की तरह, सरकार व नौकरशाही इतनी सम्मोहित हो गई कि बस प्रसंशा में उसे ताकती व ताली बजाती रही। यह अब स्पष्ट है कि तथाकथित अधिक–उपज–किस्मों का प्रवेश या हरित क्रान्ति स्वयं, खाद्य संपन्नता हासिल करने व भुखमरी मिटाने की उतनी मासूम रणनीति नहीं थी जैसा कि दावा किया जाता रहा है। वह विशुद्ध, अंग्रेजों द्वारा अपने शासनकाल में यहाँ अपनाई गई रणनीति का ही प्रतिरूप थी; फर्क सिर्फ यह था कि हरित क्रान्ति अधिक घाघ व विद्वेषपूर्ण थी – शोषण व प्रभुत्व पर आधारित बाजार की पुरानी, अमर रणनीति, इस बार विज्ञान आधारित विकास की आड़ में।

वास्तव में ''हरित क्रान्ति'' अनुपयुक्त नाम है। वह कोई हरित क्रान्ति नहीं, बल्कि हरित भ्रान्ति थी! उसने हमें कृषि के व उसके जरिए देश की खुशहाली के सब्जबाग दिखाए। वह कोई कृषि की रणनीति या खेती की व्यवस्था नहीं थी। वह विशुद्ध एक बाजार व्यवस्था थी।

हरित क्रान्ति ने बाजार की शक्तियों के पूरे जोशो–खरोश से कृषि में आने के लिए जमीन तैयार की। और ये बाजार की शक्तियाँ अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों की पीठ पर सवार होकर आईं, जो उनके रास्ते की सभी अड़चनों को अंतर्राष्ट्रीय नियमों व संधियों के जरिए हटा सकें।

अंतर्राष्ट्रीय समझौते

दो प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय संगठनों – विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष – ने विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय

कंपनियों को दुनिया भर में कृषि पर अपना प्रभुत्व व नियंत्रण जमाने में अहम भूमिका निभाई। यह उन्होंने विभिन्न आज्ञप्तियों व समझौतों के जरिए किया।

शुरूआती अंतर्राष्ट्रीय समझौतों में था – जनरल एग्रीमेन्ट ऑन ट्रेड एण्ड टैरिफ (जी.ए.टी.टी. अथवा गैट) जिसकी पहल, भारत की आजादी के साल, 1947 में हुई। 1948 में यह अंतर्राष्ट्रीय कानून बन गया। द्वितीय विश्व युद्ध खत्म हुए कुछ ही साल हुए थे और जो समाज से भारी कीमत उकेर चुका था और युद्ध में आलिप्त देशों की अर्थव्यवस्था तबाह हो रखी थी। अपनी अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए, अमरीका व उसके मित्र देशों ने एक नई व्यापार व्यवस्था बनाने का निर्णय लिया जिसके तहत विश्व व्यापार को नियमित व उदार बनाया जाए तथा देश अपने शुल्क व राजानुदान को, जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा माना जाता था, कम किया जाए। इसके लिए गैट की स्थापना हुई और भारत उसके शुरुआती 23 सदस्यों में था। बाद में, बहुपक्षीय व्यापार वार्त्ताओं, समझौतों व व्यापार विवादों को सुलझाने के लिए गैट, एक महत्त्वपूर्ण मंच व प्रेरक बना। उसकी बैठकें समय–समय पर दुनिया के अलग–अलग भागों में होती रहीं और बहुपक्षीय व्यापार वार्त्ताओं को ''ट्रेड राऊण्ड्स'' या ''व्यापार दौर'' कहा गया।

1986 से 1994 तक गैट की उरुग्वे राऊण्ड की बैठकें बड़ा मील का पत्थर साबित हुईं और उस दौरान दो बड़ी बातें हुईं। एक, विकासशील देश पहली बार इन बैठकों में सक्रिय भाग लेने लगे, और दूसरा, ''कृषि'' जिसपर उससे पहले तक हल्की ही बात होती थी, वह चर्चा की कार्यसूची का एक प्रमुख विषय बन गया। उरुग्वे राऊण्ड के दौर में ही एग्रीमेन्ट ऑन एग्रीकल्चर (ए.ओ.ए. अथवा कृशि पर अनुबंध) को चर्चा कर तय किया गया।

हालांकि गैट अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए नियम बनाता था, फिर भी वह एक अस्थाई समझौता ही था और एक औपचारिक संगठन की जरूरत सदा महसूस होती रही। साथ ही, उभरते बाजार परिदृश्यों व समस्याओं को लेकर गैट को कुछ मुश्किलें हो रही थीं। तदानुसार, 1995 में गैट के स्थान पर और उसे समाहित करते हुए वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गनाईजेशन (डबल्यू.टी.ओ. अथवा विश्व व्यापार संगठन) बनाया गया। तब तक गैट की सदस्य देशों की संख्या 123 हो गई थी। वैसे गैट, उरुग्वे राऊण्ड में जैसा अद्यतन किया गया, वस्तु व्यापार विषय पर, विश्व व्यापार संगठन के एक सह–समझौते के तौर पर अभी भी है।(59)

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के साथ ही, उरुग्वे राऊण्ड में तय कृषि पर अनुबंध लागू हो गया। तब से अब वह, कृषि उत्पादों को लेकर, सबसे प्रमुख वैश्विक व्यापार उदारीकरण समझौता हो गया है। इसी अनुबंध के जरिए, सदस्य देशों द्वारा शुल्क व राजानुदान जैसी व्यापार बाधाओं को पहले कम कर और फिर हटा कर, बाहरी देशों के कृषि उत्पादों के लिए व्यापक बाजार का रास्ता खोला गया था।

लघु किसानों की दृष्टि से और वास्तव में दीर्घकालीन कृषि की भी दृष्टि से, गैट, विश्व व्यापार संगठन व कृषि पर अनुबंध प्रमुख साधन रहे हैं जिन्होंने हरित क्रान्ति की नींव पर खुद को खड़ा करते हुए पहले खेती को 'व्यापार' में तब्दील किया और फिर उसे विकसित देशों व उनकी कृषि–रासायनिक बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सख्त नियंत्रण में बांधा। वार्त्ताओं में पेटेन्ट व बौद्धिक संपदा अधिकार के मुद्दे लाकर उन्होंने कृषि को, जो एक समय लोगों की, किसानों की उपजीविका होती थी, उसे कृषि–रासायनिक उद्योग के व्यापारियों के हाथों में दे दिया। आज, 58.2 प्रतिशत बीजों पर, 61.9 प्रतिशत कृषि–रासायनों पर, 24. 3 प्रतिशत उर्वरकों पर, 53.4 प्रतिशत पशु औषधियों पर, तथा पशु आनुवंशिकी में 97 प्रतिशत मुर्गियों व दो–तिहाई सुअर व अन्य पशु अनुसंधान पर मात्र चार कंपनियों का नियंत्रण है। उनका व दो अतिरिक्त बहुउद्देशीय कंपनियां (मोन्सान्टो, डु पॉन्ट, सिन्जैन्टा, बायर, डाऊ और बास्फ) का निजी क्षेत्र द्वारा पौध प्रजनन अनुसंधान के 75 प्रतिशत पर, व्यापारिक बीज बाजार के 60 प्रतिशत व वैश्विक कृषि–रासायनों की बिक्री के 76 प्रतिशत पर कब्जा है।(60)

कृषि पर अनुबंध ने दुनिया भर के छोटे किसानों की स्थिति को और कमजोर व संवेदनशील बनाया है। विश्व व्यापार संगठन, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों व कंपनियों को कानूनन व व्यवहारिक तौर पर इस बात की इजाजत देता है कि वे किसी भी देश के घरेलू कानूनों व नीतियों पर निगरानी रख, प्रभावित कर, दबाव डाल व हस्तक्षेप कर सकते हैं; और ये सब लघु किसान जनसमूह का अहित करके किया गया है। उदाहरण के लिए, विश्व व्यापार संगठन में कृषि के विषय पर राजानुदान एक प्रमुख मुद्दा है। पर एक तरफ तो अमरीका जैसे विकसित देशों को अपने किसानों को पर्याप्त व लगभग निरंकुश राजानुदान देने की इजाजत है, वहीं दूसरी ओर विकासशील देशों को अपने राजानुदान आवंटन को बढ़ाने या जारी ही रखने को सख्ती से रोका जाता है। यह प्रथम–दृष्टा ही सिद्धांतों के खिलाफ है क्योंकि वह विकसित देशों को अपने कृषि के उत्पादों को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बहुत कम दामों में बेचने व डंप करने की इजाजत देता है; और विकासशील देशों के लिए बड़ी विडंबनापूर्ण परिस्थिति हो जाती है कि उन्हें आयात सस्ता

पड़ता है जबकि उनकी अपनी खेती में उत्पादन की लागत उससे कहीं ज्यादा बैठती है।

विश्व व्यापार संगठन किस तरह अमीर देशों के नैतिक व आर्थिक अन्याय को वार्त्ताओं में हावी होने देता है व विकासशील देशों पर अपने बहुसंख्यक लोगों के हित को छोड़ने के लिए हर तरह का दबाव डालता है, इसका ताजा उदाहरण दिसंबर 2013 में इंडोनेशिया में हुए उसके सम्मेलन में देखने को मिला, जहाँ भारत को अपने खाद्य सुरक्षा कानून को लेकर विकसित देशों की गंभीर आलोचना व आक्रमण का शिकार होना पड़ा।

अंततः, जैसा कि लोक संगठन आवर वर्ल्ड इज़ नॉट फॉर सेल के अनुसार, ''विश्व व्यापार संगठन मूलतः अप्रजातांत्रिक है। बंद दरवाजों के पीछे काम करते हुए उसके व्यापार न्यायाधिकरणों ने व्यापक राष्ट्रीय स्वास्थ्य व सुरक्षा, मजदूरों, मानवाधिकारों व पर्यावरणीय कानूनों के खिलाफ निर्णय दिए हैं जिनमें विकसित देशों की सरकारों ने अपने कंपनी मुवक्किलों की तरफदारी करते हुए इन मुद्दों को सीधा व्यापार में बाधा बता कर चुनौती दी हैं।''(61)

यह जरूर उत्साहजनक है कि विकासशील देश अब अपने हितों की रक्षा के लिए इन वार्त्ताओं में मजबूती से विरोध दर्ज कर रहे हैं। यह समझ में आने लगा है – और समझ में आना ही चाहिए – कि वार्त्ताओं के ये मंच मूलतः अमीरों की तरफदारी करते हैं और विकासशील या अविकसित देश, वास्तव में विकसित देशों व उनके सशक्त निर्यात संरचना से वहाँ पर प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते हैं।

संभवतः विकासशील देशों की इस जागरुकता के चलते, विकसित देशों ने अन्य रास्ते तलाशे हैं, जैसा कि द्विपक्षीय व्यापार समझौते – विकासशील देशों के साथ सीधी वार्त्ता; मगर वे भी संबंधित दोनों देशों के लिए आखिर परस्पर लाभकारी नहीं होता, जैसा कि दावा किया जाता है। ये समझौते भी, कमोबेश, एक प्रबल व दूसरा अधीनस्थ या आश्रित देश के बीच समीकरण के आधार पर ही होते हैं।

समस्या सिर्फ विकासशील या अविकसित बनाम विकसित विदेशों की नहीं है, वरन् एक ही देश में भी गैर–बराबर वर्गों, अमीरों व गरीबों के बीच की भी समस्या है। भारत में भी, सरकारों व नौकरशाही ने राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय कृषि–रसायन कंपनियों व बड़े किसानों के हाथों कृषि की लगाम थमाने के रास्ते में पड़ रही बाधाओं को हटाने का ही काम किया है। एक के बाद दूसरी सरकारें ऐसे कानून, नीतियां व कार्यक्रम बनाते चले जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे बड़ी कंपनियों व बाजार के हित में हो रहे

औपचारिक बदलावों के कदम से कदम मिला कर चलते दिखे।

भारतीय संदर्भ में, हरित क्रान्ति के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव 1991 का आर्थिक सुधार कार्यक्रम रहा। साधारण शब्दों में कहें तो इसके तहत, भारतीय अर्थव्यवस्था को बाजार के लिए अधिक उदार बनाया व खोल दिया गया। इसके मायने यह हुए कि जो दृष्टि, सिद्धांत, नियम तथा नियंत्रण व पाबंद अभी तक देश की आर्थिक नीतियों व उनके अनुपालन का आधार रहे थे, वे अब अंतर्राष्ट्रीय बाजार की नजर में अति प्रतिबंधक व प्रतिगामी हो चले थे; अतः उन नियत्रणों व पाबंदियों को हल्का करने अथवा हटाने की कोशिश की गई। यह साफ था कि गैट (जी.ए.टी.टी.) की पुरजोर बयार अब हमारी दिशा में भी बह रही थी। इन सुधारों ने देश की अर्थ–व्यवस्था में बाजार की ताकतों व निजी क्षेत्र को बड़ी भूमिका अदा करने की अधिक गुंजाइश प्रदान की और स्वयं सरकार की भूमिका को कम करने की कोशिश की गई। हरित क्रान्ति के पीछे जिनका हाथ था वे अब देश के दरवाजों को निर्णायक तौर पर अपने लिए और खोलने के लिए जोर लगा रहे थे।

फलस्वरूप, देश में कई नियम, कानून, पहल व परिवर्तन हुए जिनका खाद्य व कृषि तथा छोटे किसानों के जीवन पर सीधा अथवा परोक्ष रूप से दुष्प्रभाव पड़ा। इनमें भूमि का विषय किसान संघर्षों का पहले से और अब भी एक अहम मुद्दा रहा है। सभी सरकारों द्वारा किया गया भूमि अधिग्रहण अधिकांशतः मनमाने ढंग से हुआ है जिसने खेतीहरों और आदिवासियों को अपनी जमीन से दरकिनार किया है और मूलतः संपत्ति खरीद–फरोख्त के धंधे से जुड़े लोगों, उद्योगपतियों व बांध निर्माण कंपनियों को ही फायदा पहुंचाया है। पानी का मुद्दा भी कम अहम नहीं है – और जो पानी लोगों के मूलभूत जीवन व दीर्घकालिक खेती की जरूरतों के लिए होना चाहिए था, उसे व्यापारिक उपयोग व बांध की झीलों को भरने के लिए मोड़ दिया जाता रहा है। जंगलों को लेकर भी उसी तरह की समस्या है। वास्तव में, विभिन्न कार्यक्षेत्रों के संचालन से संबंधित आज बहुत सारे शासनादेश, नियम व विनियम लागू हैं जिनका किसानों की खुशहाली पर गंभीर दबाव पड़ रहा है।

कुछ अपने कानून

इधर, कुछ कानून–अधिनियमों पर संक्षिप्त नजर डालते हैं – पौध प्रजाति संरक्षण व किसान अधिकार अधिनियम 2001 (पी.पी.वी.एफ.आर.), जैवीय विविधता अधिनियम 2002, बीज विधेयक 2004,

आदि – जिनका छोटे किसानों व अन्य लघु उत्पादकों पर विविध व दीर्घगामी प्रभाव अवश्यम्भावी पड़ेगा और पड़ भी रहा है। यह विडम्बना ही है कि कहने को तो ये नियम–कानून देश में गरीबों व छोटे किसानों के प्रति चिंता से उपजे–उभरे हैं पर परोक्ष तौर पर ये अमीर किसानों व बड़े व्यापार जगत का ही भला करते हैं।

पी.पी.वी.एफ.आर. अधिनियम का कथित उद्देश्य किसानों के अधिकारों की रक्षा करना है जिनकी पौध आनुवंशिक संसाधनों के संरक्षण में ऐतिहासिक भूमिका रही है। पर अधिनियम में पौध प्रजनकों के अधिकारों पर जोर देकर, यह अधिनियम कंपनियों द्वारा प्रजनित बीजों को प्राथमिकता देता है जो किसानों को अंततः पैसे से खरीदने पड़ेगें या उन्हें अपने बीजों को प्रयोग करने से वर्जित किया जाएगा। यह अन्याय ही नहीं, अत्याचार है क्योंकि कंपनियां जो भी नया बीज प्रजनित करेंगी, उनके मूल मातृ–बीज तो निसंदेह किसानों के खेतों व संग्रहों से ही आए होंगे।

जैवीय विविधता अधिनियम 2002 की उत्पत्ति, 1992 में ब्राजील के रियो डी जेनेरियो में आयोजित पर्यावरण सम्मेलन की जैवीय विविधता उपसंधि (सी.बी.डी.) से हुई। उस उपसंधि में जैवविविधता संरक्षण, जैवीय संसाधनों के दीर्घकालिक उपयोग तथा जैवीय संसाधनों व संबंधित ज्ञान से उपजे फायदों को न्यायोचित रूप से साझा करने की सिफारिश की गई थी। जैवीय विविधता अधिनियम 2002 में सी.बी.डी. के उन उद्देश्यों के कार्यान्वयन के लिए एक सांस्थानिक ढांचे की व्यवस्था करने की बात की गई। हांलाकि अधिनियम की कुछ धाराएं प्रगतिशील हैं, पर उसके कई पक्ष चिंताजनक भी हैं। इकॉनामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली में शालिनी भूटानी और कांची कोहली लिखती हैं, ''जब तक यह अधिनियम प्रभावी हुआ, राष्ट्रीय व वैश्विक स्तर पर व्यापार अनिवार्यताएं पर्यावरणीय कानून व नीति निर्धारण को प्रभावित करने लगी थीं। इस अधिनियम का अंतिम स्वरूप तथा 2004 में पर्यावरण व वन मंत्रालय द्वारा जारी जैवीय विविधता नियमों के जरिए उसके कार्यान्वयन के तरीके उस झुकाव को प्रतिबिंबित करते हैं।''(62)

अधिकांश कानूनों व नियमों की तरह ही, यहां भी जो लिखित में कहा गया है और जो वास्तव में कार्यान्वित होता है, दोनों में फर्क का बहुत फासला है। इन कानूनों में भी संरक्षण से अधिक, 'सुलभ उपलब्धता' ज्यादा जरूरी हो गया है, और वह भी व्यापार हेतु 'सुलभ उपलब्धता'। छोटे किसान, अन्य लघु उत्पादक या समुदाय जो देश की जैवविविधता के आदि काल से अभिरक्षक रहे हैं, वे परिदृश्य में

कहीं नहीं हैं; न उनसे परामर्श लिया जाता है, न ही उन्हें कोई लाभ ही दिया जाता है।

बीज विधेयक

बीज, जीवन और दीर्घकालिक खेती की कुँजी हैं और ऐतिहासिक तौर पर किसान समुदाय उनके पालक व मालिक रहे हैं। 1950 के शुरू दशक तक अधिकांश किसान बीजों के मामले में स्वतंत्र व आत्मनिर्भर थे। संकर तकनीक के आने के बाद, बीजों का परिदृश्य बड़ी तेजी से बदला। बीज, व्यापार का एक उत्पाद बन जाने से उसके उत्पादन व वितरण की पारंपरिक प्रणालियां ध्वस्त हो गईं और कंपनियां बीजों के व्यापार में उतर आईं।

भारत में इसकी शुरुआत 1957 में 'अखिल भारतीय समन्वित फसल सुधार परियोजनाओं' की स्थापना के लिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद व रॉकफेलर फाऊण्डेशन के बीच करार से हुई। 1963 में बीजों के उत्पादन को व्यवस्थित तौर पर करने और बीज उद्योग को दिशा देने के लिए राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गई और 1965 में सरकार ने 'अधिक उपज किस्म कार्यक्रम' अपनाया।

तत्पश्चात, बीज अधिनियम 1966 बना और बीज नियम 1968 अपनाए गए। उसके अगले ही साल, 1969 में, केन्द्रीय बीज प्रमाणीकरण परिषद् की स्थापना की गई। 1983 में बीज (नियंत्रण) आदेश जारी किया गया जिसे 1994 में प्रभावी होना था। 1998 में सरकार ने बीज विकास पर एक नई नीति प्रस्तुत की और 2002 में राष्ट्रीय बीज नीति लागू की गई।

कुल मिलाकर, ये कानून व पहल, बीजों पर और विशेशकर बीज उद्योग के समर्थन व नियमन के लिए देश में गतिविधियों के मार्गदर्शक सिद्धांत बने। अधिकांशतः, ये कानून व नियम किसानों के हितों की रक्षा और कृषीय–जैवविविधता के संरक्षण की जरूरत की बात तो करते थे पर वस्तुतः उन्होंने बीज उद्योग द्वारा उपलब्ध व भावी मौकों का भरपूर उपयोग कर फायदा उठाने के लिए ही पथ प्रशस्त किया और बीज कंपनियों में तीव्र व जबरदस्त वृद्धि को प्रेरित किया।

विश्व व्यापार संगठन की शर्तों में एक यह भी थी कि लघु किसानों को व्यापारिक बीज उत्पादकों व बीज पूर्तिकर्त्ताओं की एकाधिकारिक गतिविधियों से सुरक्षा प्रदान की जाए। उसके मद्देनजर व अन्य कारणों से भी, 1998 में बीज नीति समीक्षा समूह ने बीज अधिनियम 1966 के स्थान पर एक नया बीज कानून

लाने की सिफारिश की। फलस्वरूप, दिसंबर 2004 में राज्य सभा में बीज विधेयक 2004 प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक की उल्लेखनीय बातों में एक शर्त बीज की सभी किस्मों के पंजीकरण व प्रमाणीकरण की भी थी। और हालांकि विधेयक में किसानों को इस पाबंदी से छूट दी गई थी तथा उन्हें ''अपने खेत के बीजों व पौध सामग्रियों को रखने, इस्तेमाल करने, परस्पर आदान–प्रदान व साझा करने और बेचने'' की इजाजत थी, पर विधेयक में लगभग उसी क्रम में यह भी दर्ज था कि किसान ''अपने उन बीजों या पौध सामग्रियों को किसी ब्रांड के तहत या जो नियत प्रजनन, भौतिक शुद्धता, आनुवंशिक शुद्धता के न्यूनतम स्तर पर खरा नहीं उतरते हैं, उन्हें नहीं बेच सकते हैं....।''

तो यह तो वही बात हो गई कि एक हाथ से देना और दूसरे से ले लेना! इस विधेयक के वास्तविक हितग्राही तो सीधे–सीधे बीज व्यापार से जुड़ी कंपनियां (देसी अथवा विदेशी कंपनियों की साझीदारी में) बनती हैं जो कि किसानों पर अपने बीज बेचने पर प्रतिबंध के बाद, बीज के विशाल बाजार पर ज्यादा से ज्यादा कब्जा करने की उम्मीद कर सकते हैं।

लेकिन चूंकि किसान, नागरिक समाज व अन्य लोग किसानी के मुद्दों पर शासन की दोमुंही बातों के प्रति अब सजग हो चुके हैं, सो इस राष्ट्रीय बीज विधेयक पर व्यापक बहस व विवाद हुआ और उसे कृषि पर स्थायी संसदीय समिति को भेजा गया। कई संशोधनों के साथ, विधेयक का मसौदा तब नए शीर्षक से – बीज विधेयक 2010 – दोबारा संसद में पेश किया गया। इस संशोधित विधेयक की भी तीखी आलोचना हुई क्योंकि उसमें कृषि पर स्थायी संसदीय समिति द्वारा दिए गए प्रमुख सुझावों को अनदेखा कर दिया गया था। उसमें किसानों को कोई राहत नहीं दी गई थी, बल्कि उल्टा उनकी कीमत पर बीज उद्योग की ही तरफदारी की गई।

तो कानूनों और आदेशों की एक पूरी ही श्रृंखला है जिसका हमारी खेती पर सीधा प्रभाव पड़ता है – आवश्यक वस्तु अधिनियम 1955, बीज अधिनियम 1966, पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम 1986, उपभोक्ता सुरक्षा अधिनियम 1986, पौध, फल व बीज (भारत में आयात नियमन) आदेश 1989, उत्पादों का भूगोल सूचक अधिनियम 1999, पौध प्रजाति संरक्षण व किसान अधिकार अधिनियम 2001, जैवीय विविधता अधिनियम 2002, पेटेंट संशोधन अधिनियम 2005, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम 2013, इत्यादि। लगभग 30 नियम–कानून हैं जिनकी गिरफ्त में हमारी भारतीय कृषि और बीज हैं। कानून और नियम के उस चक्रव्यूह को देख कर तो यही लगता है कि छोटे किसानों की डगर

कभी आसान नहीं होने वाली है। ऐसे में, छोटे किसानों और उनके मुद्दों पर काम कर रहे नागरिक समाज व अन्य लोगों के लिए जरूरी बन जाता है कि कैसे अपने कानूनों के सार्थक बिंदुओं पर जोर देते हुए उसके नकारात्मक पहलुओं का विरोध व उन पर संघर्ष जारी रखें।

हरित क्रान्ति ने देश में बड़े किसानों को तत्काल अमीर बनाया और राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तदोपरान्त जो घटनाएं हुईं उनसे स्वयं भारत में भी बड़ी कंपनियों को प्रोत्साहन मिला है और वे स्वतंत्र रूप से या राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय सहयोगियों से गठजोड़ कर, कृषि में – खेती व व्यापार दोनों में – बड़े स्तर पर आयी हैं। यह विडंबना की पराकाष्ठा ही है कि जहाँ लघु किसान साल दर साल घाटे में डूबते जा रहे हैं और मजबूरन खेती करना छोड़ रहे हैं, उसी कृषि को अपना कर अधिकाधिक मुनाफा कमाने में कंपनियां सहूलियत महसूस कर रही हैं।

तो फिर लघु किसान कहाँ जाएँ?

छोटी जोत के किसानों के लिए बड़ी निराशाजनक परिस्थिति है।

पहले अंग्रेजों की नीतियां, फिर हरित क्रान्ति और उसके बाद अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संधियां, सभी ने पहले गुपचुप और अब तो खुलेआम षड़यंत्र रचा है कि लघु किसान घुटने टेक देने पर मजबूर हों।

खेती को एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और खाद्य को एक व्यापारिक वस्तु बना देने से, किसान जो एक समय अन्नदाता हुआ करते थे, वे अब महज चिरस्थायी उपभोक्ता के तौर पर देखे जाते हैं। बीजों के उपभोक्ता के तौर पर उन्हें अपने पीढ़ियों के ज्ञान व अनुभव को भुला कर बीज व्यापारी की सलाह पर पूरी तरह निर्भर रहना पड़ता है; रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के उपभोक्ता के तौर पर स्थानीय रासायनिक वितरक उनका मार्गदर्शक बन जाता है। और चूँकि एक गरीब उपभोक्ता तो व्यापारी को नहीं ही चाहिए, सो लघु किसान धीरे–धीरे खेती से निकाल बाहर किए जा रहे हैं। 2012 में राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में बोलते हुए, प्रधान मंत्री मनमोहन सिंह ने कहा कि, ''किसानों की प्रति व्यक्ति आय तभी बढ़ेगी जब खेती से कम से कम लोग जुड़ेगें।''(63)

कृषि नीतियों व कार्यक्रमों का नियोजन ही इस तरह हो रहा है कि बड़े किसान फूलें–फलें और छोटे किसान खेती छोड़ें। और छोटे किसान छोड़ रहे ही हैं। 1995 से अब तक लगभग तीन लाख किसानों ने खेती छोड़ने के लिए आत्महत्या का रास्ता अपनाया है, जिसे कृषि मुद्दों पर लिखते वरिष्ठ पत्रकार पी. साईनाथ ने, ''मानव इतिहास में आत्महत्याओं की सर्वाधिक सूचित की गई दर'' बताया है। (64) अधिकांश ये हताश किसान, जो अपने पीछे अपनी पत्नियों और बच्चों को और भी हताशापूर्ण स्थिति में छोड़ गए हैं, वास्तव में ये किसान देश के सर्वाधिक 'विकसित' राज्यों के थे, वे राज्य जो हरित क्रान्ति द्वारा प्रेरित, जीवाश्म ईधन चालित, व्यापारिक फसलों की नई खेती की प्रथम पंक्ति में हैं। और आत्महत्या करने वाले किसान वे थे जो उम्मीद में स्वयं निर्णय से या परिस्थितिवश मजबूरन अपनी जीवन–निर्वाह की खेती को छोड़ व्यापारिक फसलें उगाने लगे थे: ऐसी व्यापारिक फसलें जिनके लिए महंगे बीज खरीदना आवश्यक था; फसलें जो अच्छी बरसात या सिंचाई पर आश्रित थीं; फसलें जिन्हें रासायनिक उर्वरकों व कीटनाशकों की बड़ी मात्राओं की जरूरत होती थी; फसलें जिन्हें छोटा किसान ऋण लेने के अलावा किसी अन्य तरीके से नहीं उगा सकता था। वे दुष्चक्र में फंसे ऐसे छोटे किसान थे जो

अंततः किसी और जरिए उससे बाहर निकलने की उम्मीद नहीं कर सकते थे सिवाय आत्महत्या के।

लगभग 40 प्रतिशत किसान खेती छोड़ देना चाहते हैं, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की 2005 की रिपोर्ट ऐसा कहती ही है। 1995 से अब तक, 1.5 करोड़ से अधिक किसान खेती छोड़ चुके हैं। सरकार संभवतः क्षुब्ध है कि यह आंकड़ा इससे ज्यादा क्यों नही है!

1950–51 में, देश के गणतंत्र होने के समय, जब खाद्य और भुखमरी देश के एजेण्डा में ऊपर थे तो सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि का हिस्सा 53.1 प्रतिशत था। 2011–12 में वह घट कर 13.9 प्रतिशत रह गया। और योजना आयोग के संकल्पना 2020 (विज़न 2020) प्रपत्र के अनुसार, लक्ष्य यह है कि जी.डी.पी. में कृषि का हिस्सा कम कर 6 प्रतिशत तक लाया जाए (65)। उत्तरोत्तर सरकारों ने यह तय किया है कि धीरे–धीरे पर निश्चय ही लघु किसानी को अपने दृष्टि–फलक से बाहर करना है।

छोटे किसानों की खेती में लागत खर्च फसल मौसम–दर–मौसम बढ़ रहा है। उपभोक्ताओं के लिए भी उत्पाद निरंतर मंहगे होते जा रहे हैं। पर किसानों को लाभ में अपना उचित हिस्सा नहीं मिल रहा है(वे तो अपनी लागत भी नहीं निकाल पा रहे हैं। बारिश हो या चिलचिलाती धूप, उनकी हाड़–तोड़ मेहनत व गाढ़े पसीने की न्यूनतम समर्थन मूल्य में शायद ही कोई गिनती होती है, जिसका निर्धारण, डा. एम. एस. स्वामीनाथन के अनुसार, 80 प्रतिशत लागत व 20 प्रतिशत किसान की मेहनत के आधार पर किया जाता है।

पर ज्यादा बदतर यह है कि समाज भी तो मिट्टी से जूझ रहे इन योद्धाओं का अब आभार नहीं मानता, जिन्होंने कालातीत से धरती को सहेज कर हम तक जीवनदेय आहार पहुंचाया है और आज भी पहुंचा रहे हैं। आज छोटे किसान समाज की सबसे निचली सीढ़ी पर अटके–फंसे हैं और किसी भी दो कौड़ी के इंसान द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाते हैं। किसी के भी जीवन में इतनी अत्याधिक व तीव्र गिरावट नहीं आई है जितना कि इस देश के ''अन्नदाता'' के जीवन में।

पर्यावरणीय ह्रास, क्षीण होते जल संसाधन और अब जलवायु परिवर्तन – समस्याएं जिन्हें बनाने, बढ़ाने में छोटे किसानों का कोई हाथ नहीं है – उनके जीवन और काम को अधिकाधिक कठिन व चुनौतिपूर्ण बना रहे हैं। ये परिस्थितियां या समस्याएं भविष्य में और भी विकट होने वाली हैं। यह अखंडनीय सत्य है कि पारिस्थितिकी के इन संकटों तथा हमारे चारों ओर हो रहे तीव्र परिवर्तनों व अधःपतन का सर्वाधिक

गंभीर प्रभाव कृषि पर पड़ रहा है और उसके सर्वाधिक भुक्तभोगी लघु, सीमांत व भूमिहीन किसान व अन्य लघु खाद्य उत्पादक ही हैं।

तो क्या छोटे किसानों के लिए खेती निरर्थक, अकृतज्ञ व विवेकहीन होती जा रही है? क्या कहीं, कोई उम्मीद नहीं है?

कृषि दस हजार साल से भी ज्यादा पुरानी है। और इतिहास में ऐसे कई अवसर, कई युग आए होंगें जिनमें किसानों की आज से भी अधिक कठोर परीक्षा हुई होगी, जो उनके लिए ज्यादा चुनौतीपूर्ण, ज्यादा निराशाजनक रहे होंगे। किसानों ने उन सब बुरे समयों का पार पाया ही और उनमें से अधिक खिल कर, अपने अनुभव, सीख व परिश्रम में अधिक समृद्ध होकर उबरे।

इधर कुछ सालों से काफी शोध हुआ है जिसने यह साबित किया है कि लघु किसानों का रास्ता ही इस दुनिया के लिए श्रेयस्कर है, बल्कि भविष्य के लिए वही एक जीवनक्षम विकल्प है। अगर धरती और उस पर मानव को बचे रहना है तो और कोई रास्ता है ही नही। यही बात इंटरनेशलन एसैसमैन्ट ऑफ एग्रीकल्चरल नॉलेज, साइन्स एण्ड टैक्नॉलोजी फॉर डेवलपमैन्ट (आई.ए.ए.एस.टी.डी.), अर्थात् विकास हेतु कृषि ज्ञान, विज्ञान व प्रौद्योगिकी का अंतर्राष्ट्रीय मूल्याँकन; भी अपनी रिपोर्ट में कहता है, जो कि अब तक का सर्वाधिक प्राधिकृत दस्तावेज है। वैश्विक स्तर पर अंतर–सरकार प्रक्रिया से चार वर्ष तक चला आई.ए.ए.एस.टी.डी. अब तक का सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी मूल्याँकन रहा है जिसमें 400 वैज्ञानिकों व विषय–विशेषज्ञों तथा 900 हितग्राहियों का योगदान रहा। इसकी रिपोर्ट 2008 में जारी हुई। इस रिपोर्ट के निष्कर्ष में लिखा है कि वर्तमान जीवाश्म ईधन पर आधारित कृषि कार्यपद्धतियों से भूमि, जल, जैवविविधता व पारितंत्रों का गंभीर अधःपतन हुआ है। अतः, रिपोर्ट में छोटी जोत आधारित कृषि–पारिस्थितिकी की ओर प्रवृत होने के लिए एक आमूल रूपांतरण का आह्वान किया गया है।

किसान और वे लोग जो किसानी के मुद्दों पर काम कर रहे हैं, उन्हें काफी समय पहले इस बात की अनुभूति हो गई थी। सो, ऐसा भी नहीं है कि देश के किसानों पर जो भी परिवर्तन थोपे जा रहे हैं उन्हें आँख मूँद, चुपचाप स्वीकार कर लिया जाता है। देश भर में खेतों व सड़कों पर उनके संघर्ष, वास्तव में उनकी अपनी निराशा से उबरने की आंतरिक ताकत तथा छोटी जोत की खेती की क्षमता व संभावनाओं के सबूत हैं।

संघर्ष जारी है।

संदर्भ व स्त्रोत

1. एस. महेन्द्र देव, स्मॉल फार्मर्स इन इण्डिया : चैलेंजस एण्ड ऑपरट्यूनिटीस, इंदिरा गांधी इनस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमैंट रिसर्च, मुंबई (जून 2012। *http://www.igidr.ac.in/pdf/publication/WP-2012-014.pdf.* 6 दिसंबर 2013 को देखा।
2. सिदार्थ वर्दराजन, ऑर्डर ऑन फ्री ग्रेन टू पूअर कान्ट बी एक्ज़ीक्यूटिड, सेज़ मनमोहन सिंह, द हिंदु, 7 सितंबर 2013।
3. *http://www.thisismyindia.com/ancient_india/ancient-india-agriculture.htm.* 1 नवंबर 2013 को देखा।
4. *http://en.wikipedia.org/wiki/Indus_Valley_Civilization.* 3 नवंबर 2013 को देखा।
5. *http://www.sscnet.ucla.edu/southasia/History/Ancient/Indus2.html.* 3 नवंबर 2013 को देखा।
6. हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन इण्डिया (अप टू सी.1200 ए.डी.), लल्लनजी गोपाल व वी.सी. श्रीवास्तव द्वारा संपादित, सेंटर फॉर स्टडीज़ इन सिविलाईजेशन, नई दिल्ली, 2008।
7. *http://mhj.sagepub.com/content/11/2/229.abstract.* 15 नवंबर 2013 को देखा।
8. *http://en.wikipedia.org/wiki/History_of_agriculture_in_the_Indian_subcontinent.* 16 नवंबर 2013 को देखा।
9. पूर्वोक्त।
10. धर्मपाल, रीडिस्कवरिंग इण्डिया, सिद्ध, मसूरी, उत्तराखण्ड, 2003।
11. पूर्वोक्त।
12. *http://cpsindia.org/index.php/art/114-science-sustainability-and-indian-national-resurgence/d-science-and-technology-under-the-british-rule/158-d1-indian-agriculture-before-modernisation.* 6 नवंबर 2013 को देखा।
13. पूर्वोक्त।

14. पूर्वोक्त।

15. पूर्वोक्त।

16. आर. झब्बू, एसे ऑन दी इम्पैक्ट ऑफ कलोनियल रूल ऑफ ब्रिटिश ऑन इण्डियल एग्रीकल्चर। 1 अक्टूबर 2013 को देखा।

17. बी.एम. भाटिया, फैमिन्स इन इण्डिया: ए स्टडी इन सम एस्पैक्ट्स ऑफ दी इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 1860–1945, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1967। पॉल ग्लूमाज़ की दैन एण्ड नाऊः ब्रिटिश इम्पीरियल पॉलिसी मीन्स फैमिन मे उ)रित। *http://www.larouchepub.com/other/2008/3517brit_imperial_famine.html.* 1 अक्टूबर 2013 को देखा।

18. पॉल ग्लूमाज़, दैन एण्ड नाऊः ब्रिटिश इम्पीरियल पॉलिसी मीन्स फैमिन।

19. कैली ज़ाज़ेपनस्की, द बंगाल फैमिन ऑफ 1943, *asianhistory.about.com/od/Modern-India/ss/Bengal-Famine-1943.htm.* 3 अक्टूबर 2013 को देखा।

20. डीन नेल्सन द्वारा उद्धरित, *http://espressostalinist.wordpress.com/genocide/bengal-famine/.* 3 अक्टूबर 2013 को देखा।

21. *http://en.wikipedia.org/wiki/Famine_in_India* मे उद्धरित। 1 अक्टूबर 2013 को देखा।

22. पूर्वोक्त।

23. पूर्वोक्त।

24. पूर्वोक्त।

25. पूर्वोक्त।

26. सुमंत बनर्जी, इन द वेक ऑफ नक्सलबाड़ी, कलकत्ता, 1980। *http://iref.homestead.com/Peasant.html* मे उ)रित। 3 नवंबर 2013 को देखा।

27. *http://www.kkhsou.in/main/history/company_rule.html.* 30 अक्टूबर 2013 को देखा।

28. पूर्वोक्त।

29. पूर्वोक्त।

30. *aakarbooks.com/Content/tebhaga-movement-politics-peasant-protest-bengal-1946-1950.* 2 नवंबर 2013 को देखा।

31. सतीश कुमार, गांधीज़ स्वदेशी: दी इकॉनामिक्स ऑफ पर्मानेन्स, जैरी मंदर व एडवर्ड गोल्डस्मिथ द्वारा संपादित ''द केस अगेन्स्ट द ग्लोबल इकॉनामी'' मे, अर्थस्कैन, लंदन, 2001।

32. ग्रीन रेवोल्यूशन: कर्स और ब्लैसिंग, फ्यूचर हार्वेस्ट सेंटर, इंटरनेशनल फूड पॉलिसी रिसर्च इस्टीट्यूट, सं.रा. अमरीका, 2002। *http://www.ifpri.org/sites/default/files/pubs/pubs/ib/ib11.pdf.* 26 अक्टूबर 2013 को देखा।

33. *http://planningcommission.nic.in/reports/peoreport/cmpdmpeo/volume2/hyv.pdf.* 28 अक्टूबर 2013 को देखा।

34. *http://base.d-p-h.info/fr/fiches/premierdph/fiche-premierdph-4106.html.* 7 नवंबर 2013 को देखा।

35. एम. एस. स्वामीनाथन, फूड एज़ पीपल्स राइट, द हिन्दु, 3 जनवरी 2012।

36. पूर्वोक्त।

37. ग्रीन रेवोल्यूशन: कर्स और ब्लैसिंग।

38. *http://edugreen.teri.res.in/explore/bio/green.html.* 25 अक्टूबर 2013 को देखा।

39. *http://www.whirledbank.org/environment/agriculture.html.* 4 नवंबर 2013 को देखा।

40. पूर्वोक्त।

41. पूर्वोक्त।

42. ग्रीन रेवोल्यूशन: कर्स और ब्लैसिंग।

43. *http://www.eolss.net/sample-chapters/c19/E1-05-05-04.pdf.* 10 नवंबर 2013 को देखा।

44. *www.downtoearth.org.in/node/4628.* 4 नवंबर 2013 को देखा।

45. *india.blogs.nytimes.com/2013/07/30/bihar-school-deaths-highlights-indias-struggle-with-pesticides.* 3 नवंबर 2013 को देखा।

46. *www.financialexpress.com/story-print/119029.* 29 अक्टूबर 2013 को देखा।

47. डैनियल पैपर, द टॉक्सिक कॉन्सीक्वैन्सस ऑफ ग्रीन रेवोल्यूशन, *http://www.usnews.com/news/world/articles/2008/07/07/the-toxic-consequences-of-the-green-revolution.* 2 दिसंबर 2013 को देखा।

48. पूर्वोक्त।

49. डीप वैल्स एण्ड प्रूडेन्सः टूवर्डस् प्रैगमैटिक एक्शन फॉर एड्रैसिंग ग्राऊण्डवॉटर ओवरएक्सप्लौयटेशन इन इण्डिया, विश्व बैंक

50. भारत सरकार (2010), ग्राऊण्डवॉटर सिनारियो ऑफ इण्डिया 2009–10, केन्द्रिय भूमिगत जल बोर्ड, जल संसाधन मंत्रालय। *http://www.cgwb.gov.in/documents/Ground Water Year Book%2 02009-10.pdf.* पॉल वायरवॉल द्वारा ''इण्डियाज़ ग्राऊण्डवॉटर क्राईसिस'' मे उद्धरित, *http://www.globalwaterforum.org/2012/07/30/indias-groundwater-crisis.* 6 दिसंबर 2013 को देखा।

51. अनुपमा जीवनदास, आर.पी.सिंह व रंजीत कुमार, कनसर्न्स ऑफ ग्राऊण्डवॉटर डिप्लीशन एण्ड इरिगेशन एफीशिएन्सी इन पंजाब एग्रीकल्चरः ए माइक्रो लेवल स्टडी, एग्रीकल्चर इकॉनामिक्स रिसर्च रिव्यू, खण्ड 21 (जुलाई–दिसंबर 2008)।

52. पूर्वोक्त।

53. एम. रोडैल, आई. वैलीकौग्ना व जे. फैमीग्लीयटी, सैटेलाईट–बेस्ड एस्टीमेट्स ऑफ ग्राऊण्डवॉटर डिप्लीशन इन इण्डिया, नेचर, खण्ड 460 (2009)।

54. डाईमेन्शन्स ऑफ नीडः एन एटलस ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, संयुक्त राश्ट्र, रोम, 1995।

55. अशोक कुम्बानू, द ''जीन रेवोल्यूशन'' एण्ड द सोशियो–इकोलॉजिकल सस्टेनबिलिटी ऑफ एग्रीकल्चरः ए कम्पैरेटिव स्टडी ऑफ द एडॉप्शन ऑफ जैनेटिकली मॉडिफाइड क्रॉप्स; *http://www.idrc.ca/EN/Funding/WhoCanApply/Pages/ GradStudentDetails.aspx?ProfileID=133. Accessed on 5 December 2013.* 5 दिसंबर 2013 को देखा।

56. पूर्वोक्त।

57. पॉवर्टी एण्ड हंगरः इश्यूज़ एण्ड ऑप्शन्स फॉर फूड सिक्यूरिटी इन डेवलपिंग कन्ट्रीज़, वर्ल्ड बैंक पॉलिसी स्टडी, वाशिंगटन, सं.रा. अमरीका; 1986। *http://documents.worldbank.org/curated/en/1986/07/440681/poverty-hunger-issues-options-food-security-developing-countries1986.* 5 जनवरी 2014 को देखा।

58. पूर्वोक्त।

59. अंडरस्टैन्डिंग द डबल्यू.टी.ओ., विश्व व्यापार संगठन प्रकाशन, स्विट्ज़रलैण्ड, 2011। *http://www.wto.org/english/thewto_e/whatis_e/tif_e/understanding_e.pdf.* 6 जनवरी 2014 को देखा।

60. पुटिंग द कार्टल बिफोर द हॉर्स .... एण्ड फार्म, सीड्स, सॉयल, पैसन्ट्स, एटसैट्रा – हू विल कन्ट्रोल एग्रीकल्चरल इनपुट्स, ई.टी.सी. ग्रुप, ओटावा, कनाडा; 2013। *http://www.etcgroup.org/sites/www.etcgroup.org/files/CartelBeforeHorse11Sep2013.pdf.* 6 नवंबर 2013 को देखा।

61. *http://www.ourworldisnotforsale.org/en/node/4.* 3 दिसंबर 2013 को देखा।

62. शालिनी भूटानी व कांची कोहली, टैन ईयर्स ऑफ बायोलॉजिकल डाईवर्सिटी एक्ट, इकॉनामिक्स एण्ड पोलिटिकल वीकली, खण्ड XLVII, संख्या 39 (29 सितंबर 2012)।

63. पी.एम. मनमोहन सिंह फॉर शिफ्टिंग फार्मर्स टू नॉन–एग्री जॉब्स टू रेज़ इन्कम, दी इकॉनामिक टाइम्स, 27 दिसंबर 2012।

64. पी. साईनाथ, फार्मर सुईसाइड इज़ नॉट द क्राईसिस, इट इज़ दी आऊटकम, द हिन्दु, 8 मार्च 2011।

65. जयंत वर्मा, खेती का आत्मघाती संकट, सर्वोदय जगत, 16–30 जून 2012।

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ

फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ, एशिया (थाईलैंड, फिलीपीन्स एवं भारत) में स्थित एक नीति शोध संगठन है। फोकस भारत एवं विश्व के दक्षिण भाग (यानी विकासशील देशों) में वैश्वीकरण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था और इस प्रक्रिया में अंतर्निहित प्रमुख संस्थाओं के बारे में शोध तथा विश्लेषण प्रदान कर सामाजिक आंदोलनों एवं समुदायों की सहायता करता है। फोकस के लक्ष्य दमनकारी आर्थिक एवं राजनीतिक संरचनाओं की समाप्ति, स्वतंत्र संरचनाओं तथा संस्थाओं का निर्माण, विसैन्यीकरण और शांति को बढ़ावा देना है।

ROSA LUXEMBURG STIFTUNG
SOUTH ASIA

रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफतुंग (आर.एल.एस.)

रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग (आर.एल.एस.) जर्मनी में स्थित एक फाउंडेशन है, जो दक्षिण एशिया की तरह ही विश्व के अन्य भागों में महत्वपूर्ण सामाजिक विश्लेषण और नागरिक शिक्षा के विषयों पर कार्य कर रहा है। यह एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा देता है। इसका उद्देश्य समाज एवं नीति निर्धारकों के सामने वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। शोध संगठनों, स्व–मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले समूहों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को उन मॉडल्स के विकास में उनकी पहलों में मदद देता है, जिनमें अत्यधिक सामाजिक एवं आर्थिक न्याय देने की क्षमता हैं।